सिद्ध योग

संस्थापक संरक्षक एवं सम्पादक
योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

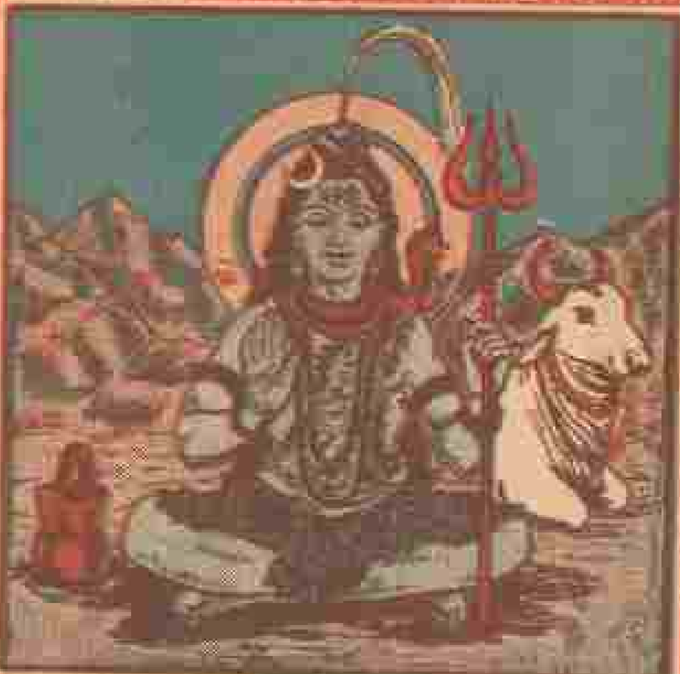

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
सेवाई, आगरा

प्रकाशक

इस अंक में—

क्रम संख्या लेख	लेखक	पृष्ठ
१. कोऽयं पुनः प्राणिनाम्	....	
२. संयम से भुवन ज्ञान (हमारा विशेष लेख)	योगयोगेश्वर अनन्त-श्री चन्द्रमोहनजी महाराज	२
३. योग-साधना क्यों और कैसे	श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री	६
४. सतां महतां विद्वानां संग-सत्संगः	ब्रह्म० श्री वीरेन्द्रस्वरूप	१४
५. परम-पथ	श्री के० एस० मानसिंह	२२
६. मोक्षधर्म कैसे	श्री ओमप्रकाश पाठक	३०
७. योग में नवीन साधकों के लिए आरम्भावस्था	श्री हीरालाल शास्त्री	३३
८. शरीर-संवर्द्धक व्यायाम	श्री विनयमोहन शर्मा	३५
९. पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम	संकलित	४२
१०. साधना पथ का साधन	ब्रह्म० श्री वीरेन्द्रस्वरूप	४४
११. अपनी स्थिति का प्रदेश (कविता)	श्री राघवेन्द्र तिवारी	४६
१२. योगाभ्यास में विषय-भोग से हानियाँ	ब्रह्म० श्री कृष्णमूर्ति	४७
१३. मनीषियों की दृष्टि में सिद्धयोग	टाइटिल	३
१४. संसार और साधना	टाइटिल	४

संयुक्त सम्पादक
दिव्य
फोन ६२१६८

वार्षिक मूल्य १५ रु०, एक प्रति १.५० पैसे मात्र

सिद्ध योग

वर्ष १०
अङ्क ११

फरवरी
१९७८

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुखं स विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थात् बहुविलसद् योगशास्त्रोपदेशात्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोग:'॥

❀ सौख्यं कुतः प्राणिनाम् ❀

आयुर्वर्षं शतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्धं गतं,
तस्यार्द्धस्य परस्य चार्द्धमपरं बालत्व वृद्धत्वयोः।
शेषं व्याधिवियोग दुःख सहितं सेवादिभिर्नीयते,
जीवे वारितरंग चञ्चलतरे सौख्यं कुतः प्राणिनाम्॥

अर्थात्

मनुष्य की पूर्ण आयु एक सौ वर्ष की है। इसमें से आधी (पचास) वर्ष की आयु रात्रि में सो कर बितादी। बाकी बचे पचास वर्ष इसमें से पच्चीस वर्ष लड़कपन और बुढ़ापे में बीत गये, शेष पच्चीस रोग एवं पुत्र कलत्र आदि के वियोग आदि के दुःख में तथा जीविका प्राप्त्यर्थ स्वामियों की सेवा में बीत जाते हैं। अतः जल की तरंगों के समान इस चञ्चल जीवन में प्राणी को सुख कैसे मिल सकता है।

—श्री महाराज भर्तृहरि

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः ॐ

हमारा विशेष लेख—

संयम से भुवन ज्ञान

■ योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

'सिद्धयोग' के कतिपय पिछले अंकों में हमने 'योग-दर्शन' के विभूतिपाद में वर्णित विभूतियों के स्पष्टीकरण के लिए कुछ लेख प्रकाशित किये थे। आशा है पाठक समुदाय उन लेखों को पढ़कर अपने आपको योग-मार्ग पर चलने के हेतु प्रयत्नशील हुआ होगा। 'सिद्धयोग' में प्रवृत्या लोकन्यास से सूक्ष्म से सूक्ष्म छुपे हुए और दूर की वस्तुओं के ज्ञान को शीघ्रता से साधक प्राप्त कैसे कर लेता है, इस पर भी हम प्रकाश डालते रहे हैं। भगवान् पतञ्जलिदेव ने इससे भी अधिक हितकर 'भुवन-ज्ञान' का उपदेश किया है। हमारे कुछ लेखों को पढ़ करके पाठक यह भी भली प्रकार समझ गये होंगे कि योगी को यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए संयम के बल की आवश्यकता रहती है और संयम समाधि के दृढ़तर अभ्यास से ही सिद्ध होता है।

समाधि की उत्कृष्ट स्थिति को ही संयम कहा जा सकता है। संयम की परिभाषा लिखते हुए श्री पतञ्जलिदेव ने 'त्रयमेकत्रसंयमः' कहकर के संयम की परिभाषा को समझाया है। अर्थात् योगी का मन धारणा, ध्यान, समाधि तीनों में एक विषयक रहे यानी व्यवधान रहित रहे तब योगी की लगाई हुई समाधि ही संयम का रूप धारण कर लेती है। फिर उस योगी का मन इतना संयमित बन जाता है कि वह जब जहाँ अपने मनको लगाना चाहेगा लगा देगा और परिणाम स्वरूप तब वह उस वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जान लेगा। सूक्ष्म व्यवहित एवं 'विप्रकृष्ट' ज्ञान के बाद भगवान पतञ्जलिदेव 'भुवन ज्ञान' का उपदेश करते हैं।

श्री पतञ्जलि जी ने लिखा है 'भुवन ज्ञानं सूर्ये संयमात्' अर्थात् सूर्य में संयम करने से योगी को अनायास ही सारे भुवनों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। देखना चक्षु का विषय है। मनुष्य की आँखों में रोशनी होती है जो वह स्थूलरूप की सब वस्तुओं को देख हो सकता है पर जिसकी आंखोंमें रोशनी ही न हो तो वह देखेगा ही क्या! योगी को दूरदर्शन, दूरस्पर्शन आदि की शक्ति संयम के द्वारा उपलब्ध हो जाया करती है किन्तु दूर-दर्शन, दूर स्पर्शन भी तभी हो सकता है जब कि योगी के अन्दर दृकशक्ति एवं स्पर्शन शक्ति बनी हुई हो। स्पर्शन-शक्ति

के मौजूद रहने पर ही योगी दिव्य देवलोकों तक का स्पर्श कर सकता है। यदि यह शक्ति योगी के अन्दर नहीं है तो वह शक्ति का विकास नहीं कर सकता। बीज से ही वृक्ष बनता है। योगी अपनी आंखों से थोड़ी दूर तक के विषयों को देख सकता है किन्तु यदि उसकी आंखों पर खुर्दबीन या दूरबीन का चश्मा चढ़ा दिया जावे तो वह कई-कई मील की दूरी तक देख सकता है। सूर्य अग्नि तत्व का केन्द्र है योगी जिस समय अपनी दृष्टि-शक्ति को अर्थात् अपनी आंख की शक्ति को सूर्यके तेज से मिला देगा तो भुवन मात्र के सभी दृश्यों को भली प्रकार से देख लेगा, क्योंकि योगी की आंख की शक्ति अब परिमित नहीं अपितु वह एक अपरिमित शक्तिसे मिलकर अपरिमित हो गई है। अतः भुवन मात्र में जहां जहां सूर्य की रश्मियां पहुँचेंगी वहां-वहां के ज्ञान को योगी अवश्यही प्राप्त कर लेगा। अब रही बात यह कि हर साधक संयम के अर्थ को भली प्रकार से समझता भी है या नहीं? सूर्य में संयम करने से भुवन ज्ञान प्राप्त तो अवश्य ही हो जाता है बशर्ते योगी को सूर्य में संयम करने की विधि का ज्ञान यथार्थ में हो। कितने ही लोग तो संयम के अर्थ को शक्ति का रोकना मात्र ही समझते है और किसीसे बिना पूछे बिना सोचे-समझे देदीप्यमान सूर्यमण्डल के अन्दर त्राटक की विधि से देखना आरम्भ कर देते है और थोड़े ही दिनों में परिणाम दुष्परिणाम के रूप में सामने आ जाता है और वह नेत्र-शक्ति से खाली हो बैठते है। बीज से वृक्षको बनाया जा सकता है किन्तु यदि बीज को पहले ही आग में भून दिया जाय तो वृक्ष तो बनना दूर रहा वह बीज ही नष्ट हो जायेगा। पिछले दिनों चण्डीगढ़ में जिस समय हिन्दी आन्दोलन शुरू हुआ, उस आन्दोलन में एक व्यक्ति ने विधान-भवन के सामने बैठ करके सूर्य को त्राटक विधि से देखना आरम्भ कर दिया। जब कोई पूछता 'क्या कर रहे हो' तो वह कहता है कि मैं सूर्य में संयम करके सारे भुवन को एक साथ देखने की ताकत पैदा कर रहा हूं किन्तु तीन दिन के अन्दर ही उसकी साधना का दुष्परिणाम सामने आ गया और वह मनुष्य नेत्र की ज्योति से रहित हो गया। वस्तुतः संयम इस विधि का नाम नहीं। योगियों का सूर्य, नाभिमण्डल में वास करता है। योग-विधि से उसी सूर्य में संयम करने से योगी को भुवन ज्ञान का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है जिस प्रकार कायव्यूह में संयम करने से योगी को कायव्यूह का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। श्री व्यासदेव जी ने इस सूत्र पर बहुत बड़ा भाष्य लिखा है जिसमें बहुत से लोकों का वर्णन किया है। जिस समय योगी सूर्य में संयम करता है तो भुवन-ज्ञान के साथ उन सभी लोकों को देख सकता है। श्री व्यास देव जी का वह भाष्य पाठकों के हितार्थ ज्यों का त्यों यहां उद्धृत कर उसके अर्थको संक्षेपतः हम नीचे लिख रहे हैं, जिसको पढ़कर साधक

यह समझ सकेंगे कि सूर्य में संयम करने से भुवन-ज्ञान भी कितनी बड़ी शक्ति योगी को प्राप्त हो जाया करती है।

व्यास भाष्य—

तत्प्रस्तारः सप्त लोकाः। तत्रावीचेः प्रभृति मेरुपृष्ठं यावदित्येवं भूर्लोकः। मेरुपृष्ठादारभ्य आ ध्रुवात् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकः। ततः परः स्वर्लोकः पञ्चविधो माहेन्द्रस्तृतीयो लोकः। चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकः। त्रिविधो ब्राह्मः। तद्यथा-जनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक इति।

ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः,
प्राजापत्यस्ततो महान्।
माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो,
दिवि तारा भुवि प्रजाः॥

इति॥

संग्रहश्लोकः। तत्रावीचेरुपर्युपरि निविष्टाः षण्महानरकभूमयो घनसलिलानलानिलाकाशतमः प्रतिष्ठाः महाकालाम्बरीषरौरवकालसूत्रान्धतामिस्राः। यत्र स्वकर्म्मोपार्जितदुःखवेदनाः प्राणिनः कष्टमायुर्दीर्घमाक्षिप्य जायन्ते ततो महातलरसातलातलसुतलवितलातलपातालाख्यानि सप्तपातालानि भूमिरियमष्टमी सप्तद्वीपा वसुमती, यस्याः सुमेरुर्मध्ये पर्वतराजः काञ्चनः। तस्य राजतवैदूर्य्यस्फटिकहेममणिमयानि शृङ्गाणि। तत्र वैदूर्य्यप्रभानुरागान्नीलोत्पलपत्रश्यामो नभसो दक्षिणो भागः श्वेतः पूर्वः स्वच्छः पश्चिमः कुरण्टकाभ उत्तरः। दक्षिणपार्श्वे चास्य जम्बूर्यतोऽयं जम्बूद्वीपः। तस्य सूर्य्यप्रचाराद्रात्रिन्दिवं लग्नमिव वर्त्तते। तस्य नीलश्वेतशृङ्गवन्त उदीचीनास्त्रयः पर्वताः द्विसहस्रायामाः। तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नवनव योजनसाहस्राणि रमणकं हिरण्मयमुत्तराः कुरव इति। निषधहेमकूटहिमशैला दक्षिणतो द्विसहस्रायामाः। तदन्तरेषुत्रीणि वर्षाणि नवनव योजनसहस्राणि हरिवर्षं किंपुरुषं भारतमिति सुमेरोः प्राचीना भद्राश्च माल्यवत्सीमानः प्रतीचीनाः केतुमाला गन्धमादनसीमानः। मध्येवर्षमिलावृतम्। तदेतद्योजनशतसहस्रं सुमेरोर्दिशि दिशि तदर्धेन व्यूढम्।

स खल्वयं शतसाहस्रायामो जम्बूद्वीपस्ततो द्विगुणेन लवणोदधिना वलयाकृतिना वेष्टितः। ततश्च द्विगुणा द्विगुणाः शाककुशक्रौञ्चशाल्मलगोमेद (प्लक्ष) पुष्करद्वीपाः समुद्राश्च सर्षपराशिकल्पाः सविचित्रशैलावतंसा इक्षुरससुरासर्पिर्दधि-

मण्डक्षीरस्वादूदकाः सप्तसमुद्रपरिवेष्टिता वलयाकृतयो लोकालोकपर्व्वतपरिवाराः पञ्चाशद्योजनकोटिपरिसङ्ख्याताः। तदेतत् सर्व्वं सुप्रतिष्ठितसंस्थानमण्डमध्ये व्यूढम्। अण्डञ्च प्रधानस्याणुरवयवो यथाकाशे खद्योत इति।

तत्र पाताले जलधौ पर्वतेष्वेतेषु देवनिकाया असुरगन्धर्वकिन्नरकिम्पुरुषयक्षराक्षसभूतप्रेतपिशाचापस्मारकाप्सरोब्रह्मराक्षसकूष्माण्डविनायकाः प्रतिवसन्ति। सर्वेषुद्वीपेषु पुण्यात्मानो देवमनुष्याः।

सुमेरुस्त्रिदशानामुद्यानभूमिः। तत्र मिश्रवनं नन्दनं चैत्ररथं सुमानसमित्युद्यानानि। सुधर्मा देवसभा। सुदर्शनं पुरम्। वैजयन्तः प्रासादः। ग्रहनक्षत्रतारकास्तु ध्रुवे निबद्धा वायुविक्षेपनियमेनोपलक्षितप्रचाराः सुमेरोरुपर्युपरि सन्निविष्टा दिवि विपरिवर्त्तन्ते।

माहेन्द्रनिवासिनः षड्देवनिकायाः त्रिदशा अग्निष्वात्ता याम्यास्तुषिता अपरिनिर्मितवशवर्त्तिनश्चेति। सर्वे सङ्कल्पसिद्धा अणिमाद्यैश्वर्योपपन्नाः कल्पायुषो वृन्दारकाः कामभोगिन औपपादिकदेहा उत्तमानुकूलाभिरप्सरोभिः कृतपरिचाराः।

महति लोके प्राजापत्ये पञ्चविधो देवनिकायः कुमुदा ऋभवः प्रतर्दना अञ्जनाभाः प्रचिताभा इति। एते महाभूतवशिनो ध्यानाहाराः कल्पसहस्रायुषः प्रथमे ब्रह्मणो जनलोके चतुर्विधो देवनिकायो ब्रह्मपुरोहिता ब्रह्मकायिका ब्रह्ममहाकायिका अमरा इति। ते भूतेन्द्रियवशिनो द्विगुणद्विगुणोत्तरायुषः।

द्वितीये तपसि लोके त्रिविधो देवनिकायः आभास्वरा महाभास्वराः सत्यमहाभास्वरा इति। ते भूतेन्द्रियप्रकृतिवशिनो द्विगुणद्विगुणोत्तरायुषः सर्वे ध्यानाहारा ऊर्ध्वरेतस ऊर्ध्वमप्रतिहतज्ञाना अधरभूमिष्वनावृतज्ञानविषयाः। तृतीये ब्रह्मणः सत्यलोके चत्वारो देवनिकाया अकृतभवनन्यासाः स्वप्रतिष्ठा उपर्युपरिस्थिताः प्रधानवशिनो यावत् सर्गायुषः।

तत्राच्युताः सवितर्कध्यानसुखाः, शुद्धनिवासाः सविचारध्यानसुखाः सत्याभा आनन्दमात्रध्यानसुखाः, संज्ञासंज्ञिनश्चास्मितामात्रध्यानसुखाः तेऽपि त्रैलोक्यमध्ये प्रतितिष्ठन्ति। त एते सप्तलोकाः सर्व एव ब्रह्मलोकाः। विदेहप्रकृतिलयास्तु मोक्षपदे वर्त्तन्त इति न लोकमध्ये न्यस्ता इति। एतद्योगिना साक्षात्कर्त्तव्यं सूर्य्यद्वारे संयमं कृत्वा ततोऽन्यत्रापि एवं तावदभ्यसेद्यावदिदं सर्वं दृष्टमिति।

अर्थात्—भुवन का विस्तार सात लोकों का समूह है। उसमें अवीची से मेरु-पृष्ठ तक भूलोक कहलाता है। मेरु-पृष्ठ से ध्रुव पर्यन्त तक ग्रह नक्षत्र एवं तारागण से चित्रित अन्तरिक्ष लोक है। उससे आगे पाँच प्रकार के स्वर्लोक हैं। उन पाँच प्रकारों में प्रथम भूलोक से तृतीय महेन्द्रलोक है, चतुर्थ प्राजापत्य महर्लोक है। उसके बाद तीन प्रकार का ब्रह्म लोक है। उनके नीचे महर्लोक, माहेन्द्र स्वर्लोक के नाम से कहा जाता है। उसके नीचे तारागणों से युक्त द्युलोक एवं उसके नीचे भूलोक है। उसमें अवीची के ऊपर क्रमशः छः नरक भूमियां बताई गई है। वे घन, सलिल, अनल, अनिल, आकाश तथा तम में ठहरी हुई है। उनके नाम क्रमशः महाकाल, अम्बरीष, रौरव, महारौरव, कालसूत्र एवं अन्धतामिस्त्र हैं। जहाँ अपने कर्मानुसार जीवगण दुःख योनी महाकष्ट दीर्घायु लेकर भोगते हैं। उसके बाद महाकाल रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल और पाताल नामक सात पाताल हैं। सप्तद्वीप वाली यह पृथ्वी अष्टम है। काञ्चन पर्वतराज सुमेरु इसी के भीतर है। उसके बाद राजत, वैदूर्य, स्फटिक एवं हेममणि युक्त शृंग-समूह हैं। उनमें से वैदूर्य प्रभा से रञ्जित होने के कारण आकाश का दक्षिणी भाग नीलोत्पल के समान श्याम है। पूर्व भाग श्वेत तथा पश्चिम स्वच्छ है और उत्तर भाग स्वर्णाभ है। इसके दक्षिण कक्ष में जम्बू है, उसी से इसका नाम जम्बूद्वीप कहलाता है। सुमेरु पर्वत के चारों ओर सूर्य के निरन्तर भ्रमण करने के कारण वहां दिन और रात निरन्तर लगे से दिखाई देते हैं अर्थात् सूर्य जिस तरफ बढ़ता है, उस तरफ दिन और जिस तरफ से निकलता हुआ चला आता है, उस तरफ रात दिखाई देती है। सुमेरु की उत्तर दिशा में दो हजार योजन विस्तार वाले नील, श्वेत तथा शृंगवान नामक तीन पर्वत हैं। उनके भीतर रमणक हिरण्मय और उत्तर कुरु नामक तीन वर्ष हैं। उनका विस्तार नौ नौ हजार योजन है। दक्षिण दिशा में दो हजार योजन विस्तार वाले निषिद हेमकूट तथा हिम शैल हैं। उनके अन्दर नौ-नौ हजार योजन विस्तार वाले हरिवर्ष किंपुरुषवर्ष तथा भारतवर्ष नाम के तीन वर्ष हैं। सुमेरु के पूर्व भाग में माल्यवान तक भद्राश्व तथा पश्चिम में गन्ध मादक तक केतुमाल हैं। उनमें इलावृत वर्ष है। जम्बूद्वीप का परिमाण सौ हजार योजन है। वह सुमेरु पर्वत के चारों ओर पचास हजार योजन तक फैला है। इस प्रकार से सौ हजार योजन जम्बूद्वीप और इससे दुने गोलाकार लवणोदधि से घिरा है। इसके बाद क्रमशः शाक, कुश, क्रौञ्च शाल्मल, मलय और पुष्कर द्वीप है। इनमें से प्रत्येक ही पहले की अपेक्षा से दुगना सप्त समुद्र सर्षों के ढेर के समान विचित्र शैल मण्डित है, जिनके नाम लवण समुद्र के अतिरिक्त इक्षुरस

सुरा, घृत, दधि, मण्ड और दूध जैसे स्वादिष्ट पानी वाले है। पचास करोड़ योजन गोलाकार सप्तद्वीप लोक पर्यन्त समुद्र घिरे हैं। यह सब अण्ड के अन्दर हैं और ये अण्ड भी प्रधान प्रकृति का अणु अवयव है, जैसे आकाश में खद्योत हुआ करते हैं। इस सब पाताल में जलधि में एवं इन सब पर्वतों में असुर, गन्धर्व, किन्नर किंपुरुष, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, अपस्मार अप्सरा, ब्रह्मराक्षस, कुष्माण्ड तथा विनायक नाम देव योनियों के समूह बसते हैं तथा अन्य द्वीप समूह में पुण्यात्मा देवता एवं मनुष्यगण निवास करते हैं। सुमेरु देवताओं की उद्यान भूमि है, वहां मिश्रवन, नन्दन वन, चैत्ररथ और सुमानस, ये चार उद्यान सुधर्मा नामक देव सभा सुदर्शन पुर तथा वैजयन्त नामक महा प्रासाद है। यह, नक्षत्र एवं तारागणों के समूह ध्रुव के साथ सम्बन्ध होकर घूमते रहते हैं। महेन्द्र लोक निवासी देवगण छः प्रकार के हैं। उनमें त्रिदश अग्निष्वात्त याम्य तुषित अपरिनिर्मित वशवर्ती एवं परिनिर्मित वशवर्ती हैं। यह सभी लोग संकल्प सिद्धि अणिमादि ऐश्वर्य सम्पन्न कल्पायु पूज्य काम योगी औपपादिक देहधारी दिव्य अप्सरिकाओं से युक्त परिवार वाले हैं। प्राजापत्य महर्लोक में देव निकाय पांच प्रकार के हैं। कुमुद, ऋभु, प्रतर्दन, अञ्जनाभ एवं प्रचिताभ, ये सब महाभूत वशी ध्यान मात्र से ही तृप्त रहने वाले सहस्र कल्पायु हैं। जन नामक ब्रह्मा के प्रथम लोक में देव निकाय चार प्रकार के हैं। जिनमें से ब्रह्म पुरोहित, ब्रह्मकायिक ब्रह्म महाकायिक और अमर हैं। वे लोग भूतेन्द्रिय वशी एवं उत्तरोत्तर दुगनी आयु वाले है। ब्रह्मा के द्वितीय तपोलक में देवनिकाय तीन प्रकार के है जैसे आभास्वर महाभास्वर सत्य महाभास्वर में लोग भूतेन्द्रिय तथा तन्मात्र वशी हैं तथा उत्तरोत्तर दुगनी आयु वाले ध्यानाहारी ऊर्ध्वरेता ऊर्ध्वस्था एवं सत्यलोक में ज्ञान की सामर्थ्य रखते हैं। ब्रह्मा के तृतीय सत्य लोक में देवनिकाय चार प्रकार के हैं। अच्युत, शुद्धनिवास, सत्याभ संज्ञासंज्ञित ये लोग भवन शून्य स्वप्रतिष्ठ उत्तरोत्तर ऊपर रहने वाले और महाकल्पायु हैं। उनमें अच्युत गण सवितर्क ध्यान सुख युक्त शुद्धि निवास गण सविचार ध्यान सुख युक्त सत्याभगण आनन्द मात्र ध्यान सुख युक्त और संज्ञासंज्ञित गण अस्मिता मात्र ध्यान सुख युक्त हैं। ये सभी लोग त्रिलोक के अन्तर्गत हैं। ये सभी ब्रह्मलोक विदेह लय गण व प्रकृति लय गण वाले मोक्ष पद में हैं। ये लोग लोक में संलग्न नहीं माने जाते। सूर्य द्वार में संयम करके योगी को इन सबका प्रत्यक्ष ज्ञान करना चाहिए इसके अतिरिक्त भी इससे ऊँचे से ऊँचे लोकों का प्रत्यक्ष कर लेना चाहिए।

व्यास का पूरा-पूरा अर्थ प्रायः ऊपर लिख दिया गया है। यद्यपि आज कल भूगोल के

अनुसार जम्बूद्वीप और सुमेरु पर्वत का जो विस्तार लिखा है, उतना दिखलाई तो नहीं देता और नहीं इक्षुरस आदि के समुद्रों का पूरा पूरा ज्ञान हो पाता है, किन्तु इसमें कोई शङ्का भी नहीं कि भूतजयी, महाभूत वशी, तन्मात्र वशी, ऊर्ध्वरेतस आदि जिन महायोगियों का जिक्र किया गया है वे लोग अवश्य ही वितर्कानुगत समाधि सुखभागी विचारानुगत समाधि सुखभागी, आनन्दानुगत समाधि सुखभागी एवं अस्मितानुगत समाधि सुखभागी होने से महाकल्पान्त तक देहधारी एवं अजर अमर लोक हैं, भूत संयमी, भूत वशी एवं तन्मात्र वशी योगी इन सभी को देखने की सामर्थ्य वाला होता है। इसलिए योगाभ्यास के अभ्यासी साधकको चाहिए कि वह अभ्यास परायण हो करके सुषुम्ना का साक्षात्कार करके सुषुम्ना द्वार से ही सूर्य में संयम करना सीखे एवं पूर्णरूपेण भुवन ज्ञान को प्राप्त करे। जो भाव व्यास भाष्य में दिखला दिया गया है, उससे भी अतिरिक्त परमात्मा की अनन्त सृष्टि को एवं ईश्वर के ऐश्वर्य को पूर्णरूपेण देख डाले, जिससे कि वह कभी भी अपने अमरपद से विचलित न हो सके।

सफलता और असफलता का कारण—संकल्प-शक्ति

मनुष्य की सफलता और असफलता का कारण कोई और नहीं, किन्तु उसकी सङ्कल्प-शक्ति ही हुआ करती है। यदि किसी कार्य में मनुष्य असफल होता है, तो इसका कारण उसका दुर्भाग्य नहीं, किन्तु उसके सङ्कल्प की निर्बलता ही हुआ करती है और यदि मनुष्य इसके प्रतिकूल किसी कार्य में सफल होता है, तो निश्चय ही इसका कारण एकमात्र उसके सङ्कल्प की दृढ़ता ही होता है। अनुभव के धनी सिद्ध पुरुषों का कहना है कि—

'मनुष्य के अन्दर यह बहुमूल्य शक्ति ऐसी गुप्त है कि जो कोई इससे काम लेना शुरू कर देता है, उसको ही यह महान और उच्च बना देती है। अटल सङ्कल्प में एक बलवान् शक्ति होती है जो अपनी अनुकूल अवस्था को स्वयमेव अपनी ओर खींच लेती है। इस कारण यदि आप जीवन-यात्रा में सफल होना चाहते हैं तो इस शक्ति का अपने अन्दर विकास करें। क्योंकि जीवन की कठिनाइयों को दूर करने वाली यही शक्ति है। जिसमें यह शक्ति है, वे अपने विचारों को बलवान् बनाकर दूर तक भेज सकते हैं, परन्तु जिनमें यह शक्ति नहीं है वे ऐसा नहीं कर सकते।' —श्रुति-सार

पूर्व प्रकाशित से आगे—

योग-साधना क्यों और कैसे ?

❁ श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री

(२) मन्त्र जप –

नियत ध्वनियों के समूह को मन्त्र कहते हैं। मन्त्र का अर्थ है—मनन करना। अर्थात् बार-बार विचार करना। जिस विचार को बार-बार मन में जमाने का अभ्यास किया जाता है, वह मन का स्वभाव बन जाता है। मन्त्र जप से मनन का स्वभाव बनता है, जिससे साधक का मन अनायास ही एकाग्र हो जाता है।

योग-दर्शन के विभूतिपाद के पहले ही सूत्र में कहा गया है—जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि से योग-सिद्धियां प्राप्त होती हैं। मन्त्रजप को स्वाध्याय भी कहा जाता है और इसकी गणना यम-नियमों में की जाती है। इसके अतिरिक्त मध्यम श्रेणी के साधकों के लिए योग-दर्शन के साधनपाद में क्रिया योग की जो साधना बताई गई है उसमें भी स्वाध्याय को महत्त्व दिया गया है।

योगशास्त्र का कहना है कि मन्त्र योगी मन्त्रसिद्धि द्वारा, राजयोगी संयमसिद्धि द्वारा और हठयोगी तपसिद्धि द्वारा योगविभूतियों को प्राप्त करते हैं।

मन्त्रशक्ति द्वारा देवी-देवता अपने आप वश में हो जाते हैं और साधक की हर प्रकार से सहायता करते हैं। जैसे—

स्वाध्यायादिष्ट देवता सम्प्रयोगः

(यो० द० २/४४)

अर्थ—देवता, सिद्ध और ऋषि स्वाध्याय-शील व्यक्ति को दर्शन देते हैं और उनका काम कर देते हैं।

हमारे सूक्ष्म शरीर में अनेक प्रकार की शक्तियां विद्यमान हैं। मन्त्र जप उन सुप्त शक्तियों को जगाने में महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। यह प्रत्यक्ष नियम है कि सूक्ष्म जगत् में सूक्ष्म की ही पहुँच हो सकती है। मन्त्र शब्दों पर आधारित होने से स्वतः सूक्ष्म होते हैं। शब्द का आधार आकाश है जो पञ्च महाभूतों में सबसे सूक्ष्म और शक्तिशाली तत्व है। अतः इससे सम्बन्धित शब्द का प्रभाव हमारे सूक्ष्म शरीर स्थित सूक्ष्म षट्चक्रों और शक्तिकेन्द्रों पर पड़ता है, जिससे वे जाग्रत होते हैं और साधक को नाना प्रकार की शक्तियों से विभूषित कर देते हैं।

अतः योगप्रेमी साधकों को चाहिए कि वे

मन्त्र जप को अपने जीवन का आधार बना ले। "कोई श्वास न खाली जाय" इस सिद्धांत को अपनाकर प्रत्येक क्षण मन्त्रजप का अभ्यास करना चाहिए।

जप तीन प्रकार का होता है—वाचिक, उपांशु और मानसिक।

मन्त्र का जोर-जोर से उच्चारण करना वाचिक जप कहलाता है।

जिह्वा एवं ओष्ठ को हिलाते हुए मुँह ही मुँह किया जाने वाला जप उपांशु जप कहलाता है।

श्वास-प्रश्वास द्वारा मन ही मन किया जाने वाला जप मानसिक जप कहलाता है।

मानसिक जप को इन तीनों में श्रेष्ठ माना गया है। इसे खाते-पीते, चलते फिरते प्रत्येक दशा में किया जा सकता है जप करते समय उसके अर्थ स्वरूप परमेश्वर का ध्यान करना चाहिए।

यदि हो सके तो चौबीस घण्टे में कम से कम दो घण्टे का समय निकालकर किसी पवित्र स्थान में मेरुदण्ड को सीधा रखते हुए सुखासन से बैठकर एकाग्र मन से जप का अभ्यास करना चाहिए। जप के साथ अपने इष्ट का ध्यान भी करते रहना चाहिए क्योंकि योग-शास्त्र का विधान है कि मन्त्र जपके बाद ध्यान और ध्यान के बाद जप करना चाहिए। ऐसा करने से शीघ्र ही परमात्मा का प्रकाश मिल जाता है। जप करते समय ऐसी भावना करनी चाहिए कि मन्त्र के प्रत्येक अक्षर के साथ परमात्मा का दिव्य तेज हमारे अन्दर प्रवेश करके हमें पवित्र और तेजस्वी बना रहा है।

मन्त्र में अक्षर-बुद्धि रखना शास्त्र-विरुद्ध है, उसे तो अपने इष्ट का प्रतीक समझना चाहिए।

जप एवं ध्यान का अभ्यास लम्बे समय तक नियमानुवर्तिता से तथा श्रद्धा एवं उत्साह पूर्वक करना चाहिए, तभी वह स्थायी होता है। जैसे :-

स तु दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कारा-सेवितो दृढभूमिः।

(योग द० १/१४)

श्रद्धापूर्वक निरन्तर किया जाने वाला जप कुछ समय बाद ही अपना प्रभाव दिखाने लगता है और साधक को दिव्य अनुभूतियां होने लग जाती हैं। मन्त्र जप के प्रभाव से योग-साधना के विघ्न भी स्वतः हटते जाते हैं।

योगयोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में योग प्राप्ति के जितने भी साधन बताये हैं उन्हें यज्ञ के नाम से सम्बोधित किया है और "यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि" कहकर मन्त्र जप की श्रेष्ठता सिद्ध की है।

अतः जप का अभ्यास अधिक से अधिक करना चाहिए।

(३) ध्यान—

संस्कृत की "ध्यै=चिन्तायाम्" धातु से शब्द की निष्पत्ति होती है। अतः ध्यान का अर्थ है—चिन्तन करना। अर्थात् मन को बाहरी विषयों से पूरी तरह हटाकर नदी के जल के प्रवाह के समान लगातार अपने लक्ष्य (परमात्मा) के में लगाये रखना ध्यान कहलाता है। ध्यान को समाधि का प्रवेश द्वार माना गया है। क्योंकि ध्यान की परिपक्वावस्था ही समाधि है।

ध्यान स्थिति की प्राप्ति के लिए ही अष्टाङ्गयोग के अन्य साधन—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार एवं धारणा का निर्देश किया गया है।

ध्यान से अन्तःकरण की शुद्धि होती है और कर्माशय क्षीण होता जाता है। अतः संयमसिद्धि के लिए ध्यान का अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है।

ध्यानाभ्यास के लिए साधक को किसी एकान्त और पवित्र स्थान में समतल भूमि पर मृगछाला, कुश अथवा गर्म वस्त्र का आसन बिछाकर स्वस्तिकासन, पद्मासन, सिद्धासन आदि किसी सुखासन पर (ऐसे आसन पर जिसमें बिना कष्ट के अधिक समय तक बैठा जा सके) बैठने का अभ्यास करना चाहिए।

उस समय कमर, छाती एवं गर्दन तीनों एक सूत्र में रहें। अर्थात्—रीढ़ की हड्डी तनी रहे।

इस प्रकार बैठकर दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर रखते हुए मन को एकाग्र करके ध्यान का अभ्यास करना चाहिए।

ध्यान की विधि गीता के छठे अध्याय में श्लोक संख्या १० से १९ तक तथा योगदर्शन के समाधि पाद में विस्तार से बताई गई है, फिर भी पाठकों की सुविधा के लिए कुछ सरल उपाय बताए जा रहे हैं—

साधक को चाहिए कि वह पहले तो अपने इष्टदेव की मूर्ति (तस्वीर आदि) को सामने रख कर उस पर टकटकी बांधकर स्थूल ध्यान करे। फिर उस स्वरूप को अपने हृदय में बैठाते हुए आँखें मूंदकर सूक्ष्म ध्यान करे। ध्यान अपने शरीर के ही नाभि, हृदय, भ्रूमध्य, नासिकाग्र आदि किसी स्थान में करना चाहिए।

ध्यान न लगने पर उपांशु जप करना चाहिए अथवा श्वास-प्रश्वास से मन्त्र जप करना चाहिए।

'ॐ' को गुन्जार करना और मन ही मन उस ध्वनि को सुनने का अभ्यास करना भी ध्यान-स्थिति बनाने में सहायक होता है।

यह कल्पना करना कि मैं किसी रमणीक उद्यान में, नदी तट पर अथवा सुन्दर वन में किसी झरने के किनारे बैठा ध्यान मग्न हूँ और गुरुदेव मुझे आशीर्वाद दे रहे हैं।"

घी की ज्योति को सामने रखकर उसे

एक टक देखते हुए त्राटक का अभ्यास करना चाहिए।

ध्यान के समय मन जहाँ भी पहुँचे, वहीं अपने ध्येय (परमात्मा) को देखने का अभ्यास करना चाहिए।

यदि अधिक न बैठा जा सके तो किसी तख्त पर या जमीन पर सीधा (शवासन में) लेट कर ध्यानाभ्यास किया जा सकता है।

मेरुदण्ड को सीधा रखना इसलिए आवश्यक है कि सूक्ष्म जगत के सभी शक्तिशाली केन्द्र (षट्चक्र) इसी मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) में स्थित हैं।

सोने से पूर्व समय बैठकर अथवा सीधा लेटकर मन्त्रजप एवं ध्यानाभ्यास करना चाहिए। उस समय अपने इष्टदेव के चिन्तन के अतिरिक्त कोई विचार मन में न उठने देना चाहिए। ध्यान करते-करते यदि निद्रा आ जाये तो वह निद्रा योगनिद्रा में बदल जायेगी और सारी रात भजन होता रहेगा। इस सम्बन्ध में क्षण-क्षण स्मरणीय हमारे परमपूज्य गुरुदेव अपने प्रवचनों में प्रायः कहा करते हैं—

सोवन तो सबसे भला जो कोई जाने सोय।
अन्तर्लौ लागी रहे सहजहि सुमिरन होय॥

सर्वत्र भगवद्ध्यान का अभ्यास—अनन्त आकाश को कुछ क्षण एकटक निहारते हुए ऐसी कल्पना करनी चाहिए कि मेरे परम आराध्य इष्टदेव विस्तृत आकाश में अखण्ड मण्डलाकार रूप में विराजमान होकर मन्द-मन्द मुस्करा रहे हैं।

"हरे राम हरे कृष्ण" की ध्वनि को गुनगुनाते हुए किसी वृक्ष की ओर देखकर यह कल्पना करनी चाहिए कि—"इसके प्रत्येक पत्ते में श्री श्यामसुन्दर सुशोभित हैं और मुरली की मधुर-ध्वनि बजा रहे हैं।"

नदी का कलकल नाद तथा पक्षियों की चहचहाहट में अपने गुरु मन्त्र की भावना करनी चाहिए।

इस प्रकार का अभ्यास करते रहने से ध्यानस्थिति बन जायेगी और अनायास ही प्रभु के दर्शन होने लगेंगे। फिर क्या है—

"जित देखो तित श्याममयी है।"

(४) मौन—

वाणी पर संयम करते हुए कम से कम बोलकर व्यवहार करना मौन कहलाता है। मौन को मानसिक तप कहा जाता है। इससे अनेक लाभ हैं। इसके अभ्यास से मन की स्वाभाविक चञ्चलता नष्ट होकर वह शान्त एवं एकाग्र होने लगता है। एकाग्रता के प्रभाव से वह अपने ध्येय (परमात्मा) के चिन्तन में लगा रहता है और चिन्तन का अभ्यास हो जाने पर साधक एकान्तप्रेमी बन जाता है। इस प्रकार वैराग्य स्वतः ही जाग्रत हो जाता है।

क्योंकि मौन का अभ्यास करने वाला साधक यह बात भलीभांति जानता है कि बोलने से मेरी चिन्तनधारा टूट जायेगी और मन इधर-उधर भटकने लगेगा। अतः वह कम से कम बोलकर काम चलाना चाहता है और इसी उद्देश्य से एकान्त की तलाश करता है। वाणी पर संयम करने से साधक की संचित आध्यात्मिक शक्ति नष्ट नहीं होती और वह कई प्रकार की बुराइयों से बचा रहता है। किसी की निन्दा-चुगली करना, झूठ बोलना तथा गाली-गलौज करना या कटु शब्दों का प्रयोग करना वाणी का दोष कहलाता है। इस दोषसे बचने का एक ही साधन है—मौन। इस सम्बन्ध में यह कहावत भी प्रचलित है—"कम खाने वाला और गम खाने वाला व्यक्ति सदा सुखी रहता है।" यहाँ कम खाने का अभिप्राय युक्त-आहार और गम खाने का अर्थ मौन ही है।

अतः साधकों को चाहिए कि वे आवश्यक, यथार्थ एवं प्रिय भाषण के लिये ही वाणी का प्रयोग करें और अधिक से अधिक मौन रहने का अभ्यास करें।

इस विषय में यह बात ध्यान देने योग्य है कि मौन की दशा में मन में किसी प्रकार की अशान्ति, कुण्ठा, भय, दीनता एवं घृणा के भाव नहीं उठने चाहिए, अन्यथा लाभके स्थान पर हानि भी हो सकती है, क्योंकि साधना-काल में मन की शक्ति बढ़ जाती है, जिससे उस समय का प्रत्येक विचार अथवा भाव या तो तत्काल फलीभूत हो जाता है या फिर साधना का बल पाकर अधिक परिपक्व होता जाता है। यदि हम दूसरों के प्रति घृणा के भाव रखेंगे तो हमारा शक्तिशाली मन उसके मन में हमारे प्रति अवश्य ही द्वेष-बुद्धि पैदा कर देगा।

प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः,
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं
विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः॥

बुद्धिमान साधक को चाहिए कि योग-साधना में आहार-विहार आदि समस्त चेष्टाओं को यथा योग्य करते हुए विधिवत् प्राणायाम करके प्राण के सूक्ष्म हो जाने पर नासिका द्वारा उसको बाहर निकाल दे। इसके बाद दुष्ट घोड़ों से युक्त रथ को जिस प्रकार सारथि सावधानी से गन्तव्य मार्ग में ले जाता है उसी प्रकार इस मन को सावधान होकर वश में किये रहे।

—श्वेताश्वतरोपनिषद्

सताँ महतां सिद्धानाँ संगः सत्संगः

❀ ब्रह्मचारी श्री वीरेन्द्रस्वरूप, सवाई, आगरा

मनुष्यमात्र सुख का अभिलाषी है। वह अपने समक्ष स्थित प्रत्येक वस्तु-विषय में सुख की प्राप्ति के लिए अन्वेषण करता रहता है। वह भ्रमर की तरह है। जिस प्रकार एक भौंरा एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर उससे रस-प्राप्ति के लिए मँडराया करता है, रात-दिन उसकी यही प्रक्रिया रहती है, फिर भी उसे तृप्ति नहीं होती। वह सुखपूर्वक कुछ क्षण भी शान्ति नहीं पाता, भटकता ही रहता है। इसी प्रकार मानव भी संसार की प्रत्येक वस्तु-विषय पर मँडराया करता है। उसका मनरूपी भौंरा पदार्थों में रात-दिन सुख-शान्ति की खोज करता हुआ भटकता रहता है, किन्तु कहीं भी वह सुखी बन नहीं ठहर पाता। उसने अपनी शैशवावस्था में खिलौनों में सुख ढूँढ़ा, किन्तु ढूँढ़ते-ढूँढ़ते थक गया, सुख नहीं मिला। कुछ आयु वृद्धि हुई विद्यालय में गया, विभिन्न शास्त्रों को उलटता, पलटता, अध्ययन करता रहा, किन्तु वह भी एक भारमात्र सिद्ध हुए और सुख-प्राप्ति से वञ्चित रहा। नाना प्रकार के व्यापार, उद्योग-धन्धे चलाये, धन अर्जित किया, किन्तु कभी भी वह एकत्रित धन-राशि उसे सुख नहीं पहुँचा सकी। उसने अपने सुख की प्राप्ति के लिए महल बनवाये। शरीर के लिए उत्तम शैय्या तैयार कराई, सुगन्ध, इत्यादि का प्रयोग किया, किन्तु क्षणभर मन ठहरकर पुनः भटकने लगा। मन किसी प्रकार अभी तक सुख से आप्लावित नहीं हो सका। उसने वाराङ्गना के अन्दर सुख की बहुत तलाश की, किन्तु उसने भी उसे क्षीण कर दिया। उसकी इन्द्रियाँ तेजहीन हो गईं। सुख की तलाश करते-करते वह हतप्रभ हो गया।

अब वह संसार के किसी भी पदार्थ में सुख को नहीं पा सका और अत्यन्त व्याकुल हो गया।

ऐसा होने पर मनुष्य संसार की ओर से अपनी दृष्टि हटा लेता है और चिरसुख की तलाश में निकल पड़ता है और प्रबुद्ध शुद्ध-शान्त महापुरुषों के चरण कमलों की महिमा एवं वैभव को सुनकर उनके सुख से सुखी होने की कामना करता है। किन्तु वे कहाँ मिलेंगे, कैसे मिलेंगे, उनकी पहचान क्या है? किन चिह्नों से युक्त देखकर उन्हें पहचानें? यह एक बहुत बड़ी समस्या उसके सामने उपस्थित होती है। क्योंकि किसी भी प्रकार के आचरणों से सन्त की पहचान नहीं हो सकती।

सन्तों के आचरण के विषय में यह प्रसिद्ध है—

क्वचिच्छिष्टाः क्वचिद्भ्रष्टाः
कदाचिद् भूत पिशाचवत् ।
नानारूपधरा योगी
विचरन्ति महीतले ॥

अर्थात् योगी लोग अनेक रूपों में इस संसार में विचार करते हैं। भीतर से वे आत्मानन्द में निमग्न रहते हैं किन्तु बाहर से वह कभी शिष्ट-रूप से व्यवहार करते हैं, कभी भ्रष्ट रूप से व्यवहार दिखलाते हैं और कभी भूत और पिशाच वृत्ति को धारण कर लेते हैं किन्तु अपने को छिपाये रखते हैं। प्रगट नहीं होने देते। अधिकारी के सामने प्रकट भी हो जाया करते हैं किन्तु साधारण जीवों की पहचान में वह नहीं आ सकते।

किन्तु मुक्त पुरुषों के लक्षण निश्चयपूर्वक जान लेने से अपना जो नित्यमुक्त स्वरूप है वह प्राप्त होता है क्योंकि मुक्तों के जो लक्षण हैं वे ही साधकों के लिए साधन हैं। मुक्त के जो सहज गुण हैं वे ही साधकों के लिए दृढ़ निष्ठापूर्वक साधने के साधन हैं। मुक्त के विपरीत लक्षण वाला जो कोई है वही बद्ध है।

अर्जुन के द्वारा मुक्त समाधिस्थ चित्तवृत्ति में स्थित पुरुषों के लक्षण एवं आचरण पूछने पर सर्वान्तर्यामी जगदात्मा श्री कृष्ण ने उन स्थितप्रज्ञ के लक्षण अर्जुन को समझाये। यथा—

अर्जुन:—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा,
समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत,
किमासीत व्रजेत किम् ।

(श्रीमद्भगवतगीता २/५४)

अर्थात् हे केशव ! समाधि में स्थित स्थिर बुद्धि वाले पुरुष के क्या लक्षण हैं और वह किस प्रकार से बोलता है ? कैसा आचरण करता है, कैसे बैठता है, कैसे चलता है ?

श्री भगवानुवाच—

प्रजहाति यदा कामा-
न्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः,
स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः,
सुखेषु विगत स्पृहः ।
वीतराग भय क्रोधः,
स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्त-
त्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि,
तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।
यदा संहरते चायं,
कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्य-
स्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता २/५५-५६-५७-५८)

अर्थात् हे पार्थ ! जिस समय मनुष्य मनमें स्थित सारी कामनाओं को त्याग देता है और स्वयं अपने आत्मस्वरूप में स्थित हुआ संतुष्ट रहता है उसे स्थिर प्रज्ञा वाला कहा जाता है।

वह दुखों के द्वारा क्षुब्ध नहीं होता है। तथा इन्द्रियों को सुख पहुँचाने वाले साधनों एवं सुख में उसकी कामना नहीं रहती है। उसके अन्तःकरण में किसी के भी प्रति राग नहीं होता है, वह भय रहित होता है, उसके अन्दर क्रोध नहीं उत्पन्न होता, क्योंकि वह वितृष्ण होता है। ऐसा मुनि स्थित प्रज्ञ वाला कहा जाता है।

वह सभी विषयों में स्नेह रहित होता है, तथा शुभ और अशुभ वस्तु एवं विषय को पाकर न तो वह शुभ को पाकर मन में हर्षित होता है और न अशुभ को पाकर मन में दुःखी होकर उस वस्तु-विषय से द्वेष ही करता है। ऐसे लक्षणों वाला स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

जिस समय वह कछुवे की भाँति—जैसे कछुआ अपने अन्दर अंगों को समेट लेता है उसी प्रकार वह भी अपनी इन्द्रियों को उनके अर्थों, शब्द, रूप, रस गन्धादि में प्रवृत्त होने से रोक लेता है और इस प्रकार चित्तको अपने स्वरूप में स्थिर रखता है उसे स्थितप्रज्ञ वाला समझना चाहिए। और—

ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा,
कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी,
सम लोष्टाश्मकाञ्चनः ॥

अर्थात् वह ज्ञान-विज्ञान से तृप्त रहता है, उसके लिए कोई ज्ञातव्य वस्तु-विषय शेष नहीं रहता। वह अपने स्वरूप में स्थित रहता है और उसकी इन्द्रियाँ पूर्णतः अपने अर्थों से अलग होकर चित्तमें लीन हो जाती हैं। उसके लिए स्वर्ण एवं मिट्टी के ढेले में कोई अन्तर नहीं रहता, वह पूर्ण अस्तेय प्रतिष्ठ होता है। ऐसा मुनि युक्त योगी का लक्षण जानो।

सन्त महापुरुष सदैव सत्यनिष्ठ हुआ करते हैं। वे मन, वाणी एवं कर्म में एकसे रहते हैं। वे संसार में सत्य को लेकर मृदुल व्यवहार से जन-मानस में छाये रहते हैं। उनमें एवं दुरात्माओं में भेद प्रकट करते हुए मनीषियों ने स्पष्ट रूप से कह दिया—

मनस्येकं वचस्येकं,
कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यत् वचस्यन्यत्,
कर्मण्यन्यत् दुरात्मनाम् ॥

अर्थात् महात्मा लोग मन, वाणी और कर्म से एक हुआ करते हैं, किन्तु दुरात्मा लोग मन में कुछ विचार करते, वाणीसे कुछ और कहते हैं तथा कर्म उनके कहे हुए से, विचारे हुए से अलग कुछ और ही हुआ करते हैं।

सन्त की स्थिति होती है :—

यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति,
यद्वाचा वदति तत् कर्मणा करोति ।

अर्थात् वे महात्मा-जन जो मन में चिन्तन करते हैं, अनुभव करते हैं, वही वाणीसे बोलते हैं और वाणी से बोलते हैं वही कर्मों द्वारा सम्पादित करते हैं ।

उनको व्यवहार काल में भगवान मनु जी के निम्नलिखित विचार में स्थित हुए देखा जाता है—

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं,
वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतं वदेत् वाचं,
मनः पूतं समाचरेत ॥

ऐसे पवित्र अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित संत जिस भूभाग में निवास करते हैं वहाँ पृथ्वी पुण्य-प्रसविनी हो जाती है। वहाँ पर जन-साधारण पहुँचते ही अपनी राजस-तामस वृत्तियों को छोड़कर पुण्य-कर्मों में प्रवृत्त स्वतः ही हो जाया करते हैं। वहाँ पर किसी प्रेरणा को बाहर से नहीं देना पड़ता। अन्तःप्रेरणा ही वहाँ की कार्य-सञ्चालिका हुआ करती है।

ऐसे सन्तोंके लक्षण हमने यहाँ प्रकट करने का एक प्रयास किया है किन्तु अपने को छिपाये रखने वाले वे सिद्ध वीतराग पुरुष आवश्यक नहीं कि वे इन आचरणों में बरतें। वे स्वच्छन्द आचरण वाले हुआ करते हैं। प्रकृति से परे हुआ करते हैं। प्रकृति के नियन्त्रण में वे नहीं रहा करते। प्रकृति पर उनका पूर्ण अधिकार होता है। प्रकृति उनके नियंत्रण में रह करती है, उनकी आज्ञानुसार चलती है। अतः उन्हें कौन पहचान सकता है वे तो कभी शिष्टों से आचरण करते हैं कभी अशिष्टों से कभी प्रेत और पिशाच वृत्ति को भी धारण कर लेते हैं।

वह सर्वशक्तिमान वीतराग सन्त किसी के द्वारा पहचाने नहीं जा सकते। न ही वे हमारी चर्मचक्षुओं के विषय बन सकते हैं। वे अत्यन्त करुणा करके जिस जीव पर कृपा करें उसी के प्रति अपने को वे प्रकट कर देते हैं, पहचान में आ जाते हैं, उसे अपना लेते हैं और उस जीव को अपनाकर उसे अपने जैसा ही बना देते हैं। जैसा कि गोस्वामी श्री तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में स्पष्ट कह दिया है—

सोइ जाने जिन्ह देउ जनाई ।
जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई ॥

सन्त के मिल जाने पर साधारण जीव भी सन्त ही बन जाता है क्योंकि—

यदि सन्तं सेवति यद्यसन्तं
तपस्विनं यदि वा स्तेनमेव ।
वासो यथा रङ्गवशं प्रयाति
तथा स तेषां वशमभ्युपैति ॥

(महा० शान्तिपर्व २९९)

जो जिस प्रकार के लोगों के संग में रहता है वह वैसा ही बन जाता है। यदि सन्त महापुरुष के संग में रहता है तो सन्त बन जाता है। यदि असाधु चोर का संग करता है तो वह वैसा ही बन जाता है। अतएव संग के विषय में सावधान रहना चाहिए। जिस प्रकार के रंग में शुभ्र वस्त्र डालेंगे वह उसी रंग में रंग जायेगा, यही स्थिति मनुष्य की है।

इसलिये देवर्षि नारद जी आदेश देते हैं—

दुस्संगः सर्वथैव त्याज्यः।

दुःसंग का सर्वथा त्याग करो। बहुत से असाधु लोग 'उदरनिमित्तं बहुकृतवेषः' के अनुसार साधु का स्वांग धारण कर घूमते रहते हैं। इन साधु वेषधारी कपटी लोगों को साधु मानकर इनका संग करने से क्या लाभ होगा? ऐसे लोगों के संग से चित्त का शुद्ध होना तो दूर रहा, जो कुछ शक्ति है वह भी नष्ट हो जाती है।

इसीलिये देवर्षि नारद जी ने स्पष्ट कह दिया—

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च

अर्थात् महापुरुषों का संग इस लोक में दुर्लभ, अगम्य है, परन्तु है अमोघ। उनका संग तो क्या-क्या नहीं कर देता—

हरति हृदयबन्धं कर्मपाशार्दितानां,
वितरति पदमुच्चैरल्पजल्पैकभाजाम्।
जननमरण कर्म श्रान्त-विश्रान्ति हेतु-
स्त्विजगति मनुजानां दुर्लभः साधुसंगः॥

(स्कन्द पुराण, विष्णु-खण्ड-१)

अर्थात् साधु संग कर्मपाश में बँधे हुए जीवोंके हृदय-बन्धन को काट देता है। क्रमशः उन्नत करता हुआ उसे धीरे-धीरे उच्च पद का अधिकारी बना देता है। बार-बार जन्म-मरण से थके हुए जीवके लिए विश्राम का हेतु होता है, परन्तु ऐसे सन्त का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है।

अनेक जन्मों का किया हुआ पुण्य जब उदय होता है तभी ऐसे महापुरुष प्राप्त होते हैं। यथा—

पुण्योदयेन बहुजन्मसमर्जितेन,
सत्सङ्गमो यदि भवेत् कृतिनो जनस्य।
अज्ञान हेतु कृतमोह महान्धकारो,
नश्येत्तदा तु उदयमेति महान् विवेकः॥

(पद्मपुराण उत्तर० १६४/७४)

अर्थात् बहुत जन्मों के उपार्जित पुण्यों का उदय होने पर इस संसार में पुण्यात्मा जीव सत्संग अर्थात् महापुरुष का संग प्राप्त करता है। तब उन सिद्ध की कृपा से अज्ञान का हेतु महान्धकाररूप मोह नष्ट होता है तथा महान् विवेक का उदय होता है।

उस महान् विवेक की रक्षा करने के लिए महापुरुष लोग आदेश देते हैं कि—

सद्भिरासीत सततं सद्भिः
कुर्वीत सङ्गतिम् ।
सद्भिर्विवादं मैत्रीं च
नासद्भिः किञ्चिदाचरेत् ॥
(गरुडपुराण पर्व ११३)

अर्थात् सज्जनों के साथ रहना चाहिए। सज्जनों का संग करना चाहिए एवं विवाद करना हो तो वह भी सज्जनों से ही करें और मित्रता भी उन्हीं से करें। असज्जन से तो कोई सम्पर्क रखना ही नहीं चाहिए और भी आदेश देते हैं:—

तृष्णां छिन्धि भज क्षमां
जहि मदं पापेरतिमा कृथाः,
सत्यं ब्रूह्यनुयाहि साधु पदवीं
सेवस्व विद्वज्जनान् ।
मान्यान्मानय विद्विषोऽप्य-
नुनय प्रच्छादय स्वान् गुणान्,
कीर्तिं पालय दुःखिते कुरु
दयामेतत् सतां लक्षणम् ॥

अर्थात् तृष्णा का भेदन कर डालो, क्षमाशील बनो, अहंकृति एवं मदोन्मत्तता पर विजय प्राप्त करो, पाप में तुम्हारी रति न होवे। सत्य बोलो, सत्य का अनुसरण करो। विद्वत् जनों की सेवा करो सम्माननीय व्यक्तियों का सम्मान करो। विद्वान होकर भी अनुनय-विनय को धारण करो। अपने सद्गुणों को छिपाओ अपनी कीर्ति की रक्षा करो, दुःखी जीवों पर दया करो। यही संत पुरुषों के लक्षण हैं—

नैव लक्ष्यते लोको
लोकान्पर्यटतोऽपि यान् ।
यथा सर्वदृशः सर्व
आत्मानं येऽस्य हेतवः ॥
(भागवत ४/२२/६)

ऐसे सन्त यद्यपि संसार के कल्याणार्थ ही संसार में विचरते हैं तो भी उन्हें लोग पहचानते नहीं, जिस प्रकार लोगों की दृष्टि बाह्य पदार्थों पर होती है। अपनी आत्मा की ओर कोई नहीं देखता।

यही बात रहूगण ने जड़ भरत जी के प्रति कही—

योगेश्वराणां गति मन्द बुद्धिः
कथं विचक्षीत गृहानुबन्धः ।
(श्रीमद्भागवत् ५/१०/२०)

अर्थात् जिनकी बुद्धि देह-गेहासक्त होकर अन्धी हो रही है वे आप जैसे योगेश्वरों के चरित्र को कैसे समझ सकते हैं। एवं—

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो,
वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः ।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जना-
न हेतुनान्यानपि तारयन्तः ॥
(विवेक चूड़ा० ३७)

अर्थात् ऐसे शान्त महान सन्त वसन्त ऋतु

के सदृश स्वार्थ रहित होकर लोकहित के लिए संसार में रहते और विचरते हैं। वे संसार-सागर से पार हुए जीवन्मुक्त दूसरों को तारने के लिए ही इस संसार में विचरते हैं अन्य हेतु से नहीं।

ऐसे महापुरुषों की महिमा महान है। हमारे पुराण-शास्त्र उनकी महिमा का वर्णन करते नहीं थकते। यथा—

प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः ।
स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति संतः ॥

(श्रीमद्भागवत् १/१९/८)

अर्थात् प्रायः सन्त लोग तीर्थ-यात्रा के बहाने तीर्थों को पवित्र करने के लिए ही जाया करते हैं। देवर्षि नारद जी स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि, सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्री कुर्वन्ति शास्त्राणि ।

(नारदभक्ति सूत्र ६९)

अर्थात् वे सन्त ही तीर्थों को तीर्थत्व प्रदान करते हैं। वे जिन कर्मों को करते हैं, वही सत्कर्म समझे जाते हैं एवं शास्त्रों के उपदेश द्वारा शास्त्रों को पवित्र सत्त्व प्रदान करते हैं। इसीलिए कहा गया है कि—

अलं प्रसन्ना हि सुखाय सन्तः

(महाभारत)

सन्त प्रसन्न हुए परमसुख मोक्ष के कारण होते हैं। तथाच—

सङ्गः सत्सु विधीयताम्

(साधक पञ्चक २)

सन्तों का संग करो। इसलिये थोड़ा ही मनुष्य को अपने लक्ष्य सुख की ओर बढ़ने के लिए सत्संग लाभ के लिये उद्यत हो जाना चाहिए क्योंकि—

युवैव धर्मशीलः स्यादनित्यं,
खलु जीवितम्
को हि जानाति कस्याद्य,
मृत्युकालो भविष्यति ।

(महाभारत)

अर्थात् जीवन अनित्य है। पता नहीं आज किसका मृत्युकाल आ जावेगा, नहीं कहा जा सकता। अतः युवावस्था से ही अपने मोक्ष धर्म के लिए सतत् प्रयत्न करना चाहिए।

सत्संग की महिमा महान है। सत्संग पाकर यह जीव भव-सागर को अनायास ही तर जाता है। जगदात्मा श्रीकृष्ण कहते हैं—

नरोधयति मां योगो,
न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो,
नेष्टापूर्तं न दक्षिणा ।
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि,
तीर्थानि नियमा यमाः ।

यथावरुन्धे सत्सङ्गः,
सर्वसङ्गापहो हि माम्।
(११/१२/१-२)

अर्थात् मैं न योग से इतना प्रसन्न होता हूँ, न सांख्य से, न धर्म से, न स्वाध्याय से, न तप और त्याग से, न इष्टापूर्ति से, न दक्षिणा से, न व्रत से, न यज्ञ से, न वेदाध्ययन से, न तीर्थाटन से और न यम-नियमों के पालन से ही इतना वशीभूत होता हूँ जितना सत्संग से वशीभूत होता हूँ, क्योंकि सत्संग अन्य सारे संगों (आसक्तियों) को हरने वाला है।

आमतौर पर लोग सत्संग का अर्थ यह समझते हैं कि ढोल, मजीरे, बाजे लेकर कुछ लोग एकत्रित हो जायें और सङ्कीर्तन, भजन बोलें अथवा रामायण या पुराण लेकर उसका प्रवचन करें, श्रवण करें या शास्त्रोंका विवेचन करें। किन्तु यथार्थ में वह सत्संग नहीं है। सत्संग तो क्षण भर का बहुत होता है, संसार से पार कर देने वाला होता है। जैसा श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में महाराज निमि कहते हैं—

संसारेऽस्मिन् क्षणार्धोऽपि सत्संगः शेवधिर्नृणाम्।

(श्रीमद्भागवत् ९-३०)

ऐसा सत्संग तो सिद्ध-पुरुषों की दृष्टि सङ्कल्प में ही होता है जो कि क्षण भर में जीव को शिव बना दिया करते हैं, बद्ध को मुक्त बना देते हैं। सामने आये हुए जीव को आत्मसात् कर लेते हैं। अतः यथार्थतः—

सतां महतां सिद्धानां संगः सत्संगः

कह करके सत्संग की व्याख्या की गई है। यहाँ पर श्री गुरुदेव जी मौन बैठे हैं एवं उनके समस्त शिष्यगण भी मौन बैठे हैं। श्री गुरुदेव जी का मौन व्याख्यान होता है और शिष्यों के संशय स्वतः क्षीण होते चले जाते हैं। ऐसे ही सत्संग को क्षण भर के लिए ही प्राप्त करके जीव इस संसार-सागर से तर जाया करता है। उन सद्गुरुदेव जी के नासिकारन्ध्रों से निकले हुए तेजोपरमाणु शिष्यों के नासिकारन्ध्रों से निकले हुए परमाणुओं को अपने अन्दर विलीन कर लेते हैं और शिष्यों का चित्त उनके विकार रहित चित्त में लय हो जाता है और सभी अपने स्वरूप में स्थित हो जाते हैं। स्वरूप में स्थित हो जाने के बाद सारे क्लेशों की निवृत्ति हो जाती है। सुख के लिए भटकता हुआ जीव स्वरूपानन्द को पाकर सदा के लिए फिर आत्म-सुख में लीन होकर रहता है। यह है सत्सङ्ग और उसकी महिमा।

परम-पथ

श्री के० एस० मानसिंह, अध्यात्म निकेतन-कोटेश्वर ग्वालियर

भौतिक-जगत की अनुभूति जीव को उसकी इन्द्रियों के माध्यमसे होती है। इन्द्रियां ही मन को इस जड़ प्रपञ्च की ओर आकर्षित करके उसे (मन को) सांसारिक विषयों के आस्वादन में प्रवृत्त करती हैं और इस प्रकार उसकी गति को निरन्तर बहिर्मुखी बनाये रखती हैं। यह मन ही है जो इन्द्रियों के साथ प्रवहमान होकर विविध रूप धारण करता है और रूप, रस, गन्ध, शब्द एवं स्पर्श की नानाविध अनुभूति करता है। परमार्थ-पथ पर अग्रसर होने के लिए साधक-पथिक को साधना के द्वारा मन की इसी बहिर्मुखी प्रवृत्ति पर नियन्त्रण करके उसे अन्तर्मुखी बनाना होता है। सीधी-सरल शब्दावली में इस कथन का अभिप्राय यह है कि मन की जो शक्ति जागतिक विषयों में व्यर्थ व्यय हो रही थी, उसे साधक उचित साधना के अवलम्बन द्वारा परमात्म-सत्ता की अनुभूति के अपरिसीम आनन्द की ओर गतिमान कर देता है। यह ठीक वैसा ही है जैसे हम किसी जलधारा के प्रवाह को परिवर्तित करदें। जलधारा का दिशा परिवर्तन भौतिक कार्य है, अतः तदर्थ भौतिक उपकरणों की आवश्यकता होती है। मन की गति को परिवर्तित करना जड़ कार्य नहीं है, इसलिए उसके लिए चैतन्य के उपकरण की आवश्यकता होती है। किन्तु यह कार्य उतना सुगम नहीं है जितना उसका कथन। शास्त्रों में इसके लिये प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्ति-मार्ग के नाम से अभिहित दो साधनों का उल्लेख प्रायः मिलता है।

प्रवृत्ति-मार्ग का साधक वर्ण-धर्म का यथोचित निर्वाह करते हुए आचारयुक्त संयमित जीवन बिताता है। अपने समस्त कर्मों को भगवदर्पण करते हुए वह शनैः शनैः आत्म-साक्षात्कार के दिव्य-पथ पर अग्रसर होता चलता है।

निवृत्ति-परायण साधक इन्द्रियादि के विषयों से सर्वथा विरक्त होकर मनका निरोध कर लेता है और साधना की चरम-परिणति में भगवद्‌साक्षात्कार की सिद्धि कर पाने में समर्थ हो जाता है।

दोनों साधनों का लक्ष्य एक ही है।

प्रवृत्ति-मार्ग प्रवृत्तिरोधक होने से उसका पथिक सांसारिक व्यवहार का यथोचित पालन करते हुए शनैः शनैः इन्द्रियादिक के विषयों

को मर्यादित करता हुआ अध्यात्म-पथ पर अग्रसर होता है। इन्द्रियों को "गो" कहा गया है, प्रवृत्ति धर्म के यथोचित पालन द्वारा इन्द्रियारूपी "गो" की रक्षा होती है। निवृत्ति पालन की योग्यता और क्षमता उपलब्ध होती है और निवृत्ति का अधिकाधिक पोषण होता जाता है। इन्द्रियों की रक्षासे ही वर्ण-व्यवस्था अर्थात् ब्राह्मण आदि की रक्षा होकर धर्म की रक्षा होती है।

मन जब भगवन्मुखी हो जाता है तो साधक शरीर द्वारा संसार में रहते हुए भी, और यहां के व्यवहारों का निर्वाह करते हुए भी, स्वाभाविक रूप से ही निवृत्ति-धर्म के पालन में तन्मय हो जाता है। वह इस जगत रूपी जल में कमल-पत्र-वत् रहता और व्यवहार करता है। यही सच्चा वैराग्य है। शास्त्रों में अनासक्त-भाव को वैराग्य कहा गया है। किसी बाह्य-आडम्बर अथवा उपचार से वैराग्य सिद्ध हो जाता हो, ऐसी बात नहीं है, अपितु उससे तो यदा-कदा वैराग्य में बाधा उत्पन्न होने की सम्भावना ही अधिक रहती है। वैराग्य एक आन्तरिक स्थिति विशेष का नाम है, बाह्या-डम्बरों से उसका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, हां बाह्य उपचार, यदि वे सत्य की दृढ़ भूमि पर आधारित हो तो वैराग्य के उपयुक्त वाता-वरण अवश्य उपस्थित करते हैं और उस दशा में वे वन्दनीय हैं। किन्तु मात्र प्रदर्शन अथवा अहं की तुष्टि के लिए उनका अवलम्बन तो सर्वथा निन्दनीय और त्याज्य ही कहा जाना चाहिए, क्योंकि ऐसी स्थिति में परमार्थ-पथ प्रशस्त होने के स्थान पर अवरुद्ध ही होता है और साधक पतन की ओर अग्रसर होता है। अतः यह स्पष्ट है कि आन्तरिक उत्थान की अवहेलना करके मात्र बाह्य वेष आदि का आश्रय लेने से वैराग्य की सिद्धि नहीं हो सकती।

'पवन-विजय-स्वरोदय' नामक ग्रन्थ में भगवान सदा शिव और जगदम्बा पार्वती के सम्वाद में यह विषय स्पष्ट हुआ है। आशुतोष पार्वती जी से कहते हैं कि—प्राण पर विजय प्राप्त होने पर, सांसारिक व्यवहार का पालन करते हुए भी प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों साधित होती हैं। अनुभवी महात्माओं के मतानुसार अनन्य भगवद् प्रेम की स्थिति में, प्राण-विजय स्वाभाविक रूप से ही सिद्ध हो जाती है। महात्मा चरणदास जी के अनुसार—

इन्द्रिन कूं मन वश करै, मन कूं वश करै पौन।
अनहद वश करै वायु कूं, अनहद कूं ले तौन॥
याको नाम समाधि है, मन तामें ठहराय।
जन्म-जन्म की. वासना, ताकूं दग्ध कराय॥

उत्कट भगवद् प्रेम की स्थिति में साधक का सीमा-भाव छूट जाता है और परमात्मा के साथ एकावस्था की अनुभूति सम्भव हो जाती है। कबीर साहब ने इसी अद्वैतानुभूति का वर्णन इस प्रकार किया है—

हेरत हेरत हेरिया, गया कबीर हिराय।
बूंद समानी सिन्धु में, सो किमि हेरी जाय॥

इस प्रकार ससीम, असीम में तिरोहित अथवा विलीन हो जाता है। तब असीम से पृथक उसकी कोई सत्ता नहीं रहती, यही 'जानत तुमहि,तुमहि होइ जाई' की स्थिति है।

अनन्य प्रेम को उपलब्ध हुआ साधक अन्तर के अन्तरसे सर्वतो भावेन सद्गुरु अथवा परमात्म-सत्ता के प्रति समर्पित हो जाता है। तब उसके लिए कोई साधना शेष नहीं रह जाती। अनन्य भाव से प्रभु के शरणापन्न हुए साधक के समस्त पातक क्षणभर में ही समाप्त हो जाते हैं और उसे अन्य साधनों की सिद्धि स्वयमेव तथा सहज ही में हो जाती है। इसीलिए परम योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

सर्व धर्मान् परित्यज्य
मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो
मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

भगवान राम का यह वचन भी इसी तथ्य की ओर संकेत करता है—

"सन्मुख होहि जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासौं तबहीं॥"

योग दर्शन में योग की प्राप्ति के विभिन्न उपायों में भी अनन्य प्रेम समाविष्ट समर्पण भाव को ही सर्वाधिक सुगम मार्ग एवं साधन बताया है यथा—

ईश्वर प्रणिधानाद्वा

प्रणिधान वह भक्ति है जिसमें इन्द्रिय-भोग आदि समस्त फलाकांक्षाओं को त्याग कर समस्त कर्म उन परमगुरु, देवगुरु, सर्वज्ञ-परमात्मा को समर्पित कर दिये जाते हैं, यही ईश्वर में परमानुरक्ति है। ब्रज की गोपांगनायें जगदाधार भगवान श्रीकृष्ण के प्रति समर्पित होकर ही वंदियों में अग्रगण्य हुई। सुन्दरदास जी ने निम्न पंक्तियों में इस भाव को बड़े सुन्दर रूप से अभिव्यक्त किया है—

प्रीति की रीति कछु नहिं राखत,
जाति न पांति नहीं कुलगारो।
प्रेम कूँ नेम कछु नहिं दीसत,
लाज न कान लग्यौ सब खारो॥
लीन भयौ हरि सूँ अभिअन्तर,
आठहू याम रहै मतवारो।
सुन्दर कोउक जानि सकै,
यह गोकुल गांव को पैंडोहि न्यारो॥

इस परम प्रेमरूपा स्थिति को ही लक्ष्य करके नारदभक्ति सूत्र में कहा गया है—

'सातु कर्मज्ञानयोगेभ्य अधिकतरा'

प्रेमाभक्ति कर्म से श्रेष्ठ है तथा ज्ञान और योग से भी उच्च है। प्रेम में समस्त नीति-नियमों का अभाव हो जाता है—

जहां प्रेम तहं नेम नहिं,
तहां न बुधि व्यौहार।
दोनों कबहूं ना मिलें,
रवि रजनी इक सार॥

(कबीर साहब)

साधक में प्रेम का उदय होते ही मन स्वयमेव विषयों में विचरण करना त्याग देता है। यथा—

मन पंछी तब लगि उड़ै,
विषय वासना माँहि।
प्रेम बाज की झपट में,
जब लगि आयौ नाहि॥

इस प्रकार प्रेमाभक्ति द्वारा मन की सहज एकाग्रता सिद्ध होती है और प्रभु के परमप्रिय अतीन्द्रिय सुषमासार स्वरूप का साक्षात्कार होता है, जैसा भगवान शङ्कर ने कहा है—

हरि व्यापक सर्वत्र समाना।
प्रेम से प्रकट होहिं भगवाना॥

जो साधक मनसा, वाचा, कर्मणा उस परमगुरु अथवा मालिक के चरणों में अनुरक्त हो जाता है उसका फिर किसी भी काल में उस परमसत्ता से वियोग नहीं होता—

प्रेम-पन्थ जो पहुँचे पारौ।
बहुरि न आइ मिलै एहि छारौ॥
(कबीर)

रामचरितमानस में लक्ष्मणजी का वचन है—

धर्म नीति उपदेसिअ ताही।
कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥
मन क्रम बचन चरन रत होई।
कृपासिन्धु परिहरिअ कि सोई॥

गुरु तत्त्व सर्वोपरि तत्त्व है। सभी नाम-रूपों को उसीने धारण किया है। कोई विरला भाग्यवान साधक ही उस परम तत्त्व का भगवत्कृपा से साक्षात्कार कर पाता है, क्योंकि प्राकट्य सद्गुरु के ही अधीन है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने इसी सत्य को इन शब्दों में उद्घाटित किया है :—

जेहि जाहो तेहि देउ जनाई।
जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई॥

जिस मानव-देह में उस परमगुरु की सत्ता अवतरित होती है वह उसीके स्वरूपका हो जाता है। इस स्थिति विशेष को उपलब्ध पुरुष ही संसार में अध्यात्म-विद्या का प्रणेता गुरु होता है। उसी के द्वारा विश्व का अध्यात्म के क्षेत्र में मार्ग-दर्शन होता है। यद्यपि पिण्ड में रहते हुए सर्वज्ञता पूरा काम नहीं करती किन्तु ऐसे महापुरुष का सम्बन्ध उस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान पुरुष अथवा सद्गुरु से जुड़ जाने के कारण संसार में लोगों के अनुभव में वह प्रायः सर्वज्ञ एवं सर्वसमर्थ की भांति ही आता है। ऐसा जीवन्मुक्त महापुरुष उस परमात्मसत्ता में एकत्व लाभ करके सर्वप्रकार से उसी पर अवलम्बित हो जाता है। उसकी समस्त इच्छायें स्वभावतः ही परमेश्वर अथवा मालिक की इच्छा या मौज के अधीन हो जाती हैं। शब्द-प्रताप आश्रम ग्वालियर के संस्थापक सद्गुरु हुजूर दातादयाल ने अपने अन्त समय के वचनों में कहा है—"सद्गुरुदयाल जब तक

नर शरीर तशरीफ रखते हैं सुरतों की सम्हाल नहीं करते। कारण कि इस घाट पर यानी नर शरीर में रहते हुए सर्वज्ञता और सर्व समर्थता (पूरा) काम नहीं करती। इसलिये अब तक वे गुरु स्वरूप में विराजते हैं अन्तर्यामी पुरुष यानी मालिक कुल उनके स्वरूप से सेवकों के घट में परिचय देते हैं और उनकी सम्हाल करते हैं, जैसा कि परमसन्त पलटू साहब ने फरमाया है :—

करत करावत आप है, पलटू पलटू शोर

और जब वे अपने निज धाम को तशरीफ ले जाते हैं तब खुद निज स्वरूप से सेवकों के अंग संग रहकर उनकी सम्हाल करते हैं और अपनी दया से उनका काम पूरा कराकर अपने निज चरणों में जगह देते हैं।

श्रीमान् मेजर बजलाल जी[1] के अनुसार भी "देह में रहते हुए कोई भगवान नहीं हो सकता, किन्तु भगवान की इच्छा के अधीन जीवन्मुक्त पुरुष की इच्छा होने से भगवत्सत्ता स्वयं उनके लिए कार्य करती है।"

सर्वज्ञ स्थिति को प्राप्त ऐसे बिरले महापुरुष के सम्बन्ध में सन्त कबीर साहब ने कहा है:—

बूँद समानी सिन्धु में, यह जानत सब कोय।
सिन्धु समाना बुन्द में, जाने बिरला कोय॥

स्वामी जी महाराज आगरा (राधास्वामी श्री महाराज) ने साधकों के हितार्थ कहा है—

गुरु को तुम मानुष मत जानो,
वे हैं सत्तपुरुष की जान॥
दया मेहर में बचन सुनावें,
वे हैं पूरन पुरुष अनाम॥
धरी देह मानुष की गुरु ने,
ज्यों-त्यों तेरा करें कल्यान॥
सेवा कर पूजा कर उनकी,
उनहीं को गुरु नानक जान॥
वही कबीर वही सतनामा,
सब सन्तन को वहीं पिछान॥
तेरा काज उन्हीं से होगा,
मत भटके तू तज अभिमान॥

× × ×

जो अनुरागी बिरही भाई,
भक्ति गुरु की उन प्रति गाई॥
वक्त गुरु जब लग नहिं मिलई,
अनुरागी का काज न सरई॥
विरषम सीढ़ी भक्ति गुरु की,

१—श्रीमान् मेजर बजलाल जी, मझोल, हमीरपुर, (हिमाचल प्रदेश) ने अनेक लोगों को नाम दान देकर परमार्थ-पथ पर अग्रसर किया है। आप बाबा सावनसिंह जी महाराज, ब्यास के शिष्य तथा श्रीमान् चरणसिंह जी महाराज एवं श्रीमान् कृपालसिंह जी महाराज के गुरु भाई हैं। श्रीमान् फकीरचन्द जी महाराज (होशियारपुर) से भी आपका सम्बन्ध है। आपने अपने स्थान का नाम भी अध्यात्म-नाम-निकेतन रखा है।

दूसरी सीढ़ी सुरत नाम की ॥
जब लगि गुरु भक्ति नहिं पूरी,
मन मनसा यह होयँ न चूरी ॥

× × ×

गुरु पूजा में सबकी पूजा,
जस समुद्र सब नदी समाना।
देवी देवा ईश महेशा,
सूरज शेष औ' गौर गनेशा ॥

ब्रह्म औ' पारब्रह्म सतनामा,
तीन लोक और चौथा धामा।
गुरु सेवा में सबकी सेवा,
रंचक मर्म न मानो भेवा ॥

"गुरुगीता" में भगवान सदाशिव पार्वती जी से कहते हैं :—

गुकारं च गुणातीतं,
रुकारं रूपवर्जितम्।
गुणातीत स्वरूपं च यो
दद्यात्स गुरु स्मृतः ॥
गुरुरेव जगत्सर्वं,
ब्रह्मविष्णु शिवात्मकम्।
गुरोः परतरं नास्ति,
तस्मात्संपूजयेद् गुरुम् ॥
नित्यं ब्रह्म निराकारं,
निर्गुणं बोधयेत परम्।
सर्वं ब्रह्म निराभासं,
दीपो दीपान्तरं यथा ॥

ज्ञानं विज्ञान सहितं,
लभ्यते गुरु भक्तितः।
गुरो परतरं नास्ति,
ध्येयोऽसौ गुरु मार्गिभिः ॥
श्रुति स्मृती अविज्ञाय,
केवलं गुरु सेवकाः।
तेवे सन्यासिनः प्रोक्ता,
इतरे वेष धारिणः ॥

"गु" शब्द गुणातीत और "रु" शब्द रूपातीत को प्रकट करता है। जो गुणरूप से से अतीत (निर्गुण-निराकार) स्वरूप को देने वाले हैं, उन्हें गुरु कहा गया है।

श्री गुरु ही समस्त जगत हैं, ब्रह्मा, विष्णु और शिवस्वरूप हैं। गुरु से परे कुछ नहीं है, इसलिए श्री गुरु का पूजन करना चाहिए।

जिस प्रकार एक दीपक अन्य दीपक को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार शिष्य को जो नित्य, निराकार, निर्गुण निराभास परब्रह्म का बोध कराता है वही गुरु है।

श्री गुरु की भक्ति से विज्ञान सहित ज्ञान प्राप्त होता है। गुरुदेव से श्रेष्ठ कुछ नहीं है इसलिए सिद्धमार्गियों को उनका ध्यान करना चाहिए।

श्रुति और स्मृति को न जानने पर भी केवल गुरु-सेवा करने वाला ही संन्यासी है, दूसरे तो केवल वेशधारी संन्यासी हैं।

सद्गुरु के श्री चरणों में निष्ठा और प्रेम तथा साधना के प्रति सजगता, सतत और अविराम होनी चाहिए, अल्प कालिक नहीं—

जैसी लो पहिले लगी, तैसी निबहै ओर।
अपनी एक की कहा चली, तारै पुरुष करोर॥

(सन्त कबीर)

प्रेम-भक्ति द्वारा परमात्म-तत्त्व से एकत्व स्थापित होना ही विज्ञान है। किसी व्यक्ति ने प्रसिद्ध सूफी सन्त मंसूर से प्रश्न किया—खुदा का घर कितनी दूर ? मंसूर ने उत्तर दिया—सिर्फ दो कदम। एक कदम दुनिया से उठाया तो परलोक में पहुँच गये और दूसरा कदम परलोक से उठाया तो मौला के पास पहुँच गये। जहाँ तक दृश्य-प्रपंच है उसका ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से ही होता है। इहलोक अथवा स्थूल सृष्टि का ज्ञान स्थूल इन्द्रियों से तथा परलोक अथवा सूक्ष्म सृष्टि का ज्ञान सूक्ष्म इन्द्रियों से होता है। 'प्रवृत्ति-धर्म' पालन से परलोक में गति होती है। जहाँ तक स्थूल सृष्टि का ज्ञान है वह तो मात्र जड़ ज्ञान है। यही अपरा विद्या है। समस्त अपरा विद्याओं के फल अनित्य हैं। परलोक का ज्ञान अर्थात् पराविद्या उससे श्रेष्ठ है। जो महापुरुष परलोक का भी त्याग कर सूक्ष्म सृष्टि और उसके आनन्द से भी निवृत्त हो, और ऊपर उठ जाता है वही उस नाम-रूप एवं काल-माया से परे सर्वज्ञ, सर्व समर्थ, परम करुणाकर, निरञ्जन अथवा परम निरञ्जन परात्परतर तत्व से एकत्व लाभ करता है। यही वास्तविक विज्ञान है और इस स्थिति को शरीर में रहते हुए प्राप्त करने वाला व्यक्ति ही विज्ञानी हो सकता है।

समष्टि-प्रेम-रूप सर्व व्यापी पुरुषोत्तम की साक्षात् उपलब्धि करने वाले पुरुष का सहज ही सारे विश्व से प्रेम हो जाता है। विश्व-बन्धुत्व एवं विश्व-कल्याण की भावना स्वाभाविक रूप से ही उसमें व्याप्त हो जाती है। भगवत्पुत्र ईसामसीह ने भी भक्ति व प्रेम को ही प्रमुखता रखी है। सूफी मुसलमान फकीरों ने परम-प्रेमानुरक्ति द्वारा परब्रह्म पद अथवा ईश्वर पद को प्राप्त किया और नाना विधि सिद्धि-शक्तियाँ प्राप्त की।

हमारे सामाजिक जीवन में भी प्रेम का महत्व सर्वमान्य है। अनेकानेक समाज-सुधारकों और विचारकों द्वारा पारस्परिक सद्भाव और प्रेमपूर्ण व्यवहार के प्रचार-प्रसार के निमित्त प्रयास किये जाते रहे हैं। श्रीमान् राजा महेन्द्रप्रतापसिंह जी ने इसी आधार पर 'प्रेम-धर्म,' प्रचलित किया था, जिसमें पारस्परिक प्रेम सद्भावपूर्ण विचारधारा निहित थी[१]।

१—राजा महेन्द्रप्रतापसिंह श्री सुभाषचन्द्र बोस के साथी व संसद सदस्य रहे हैं। आपने स्वतन्त्रता से पूर्व विदेश में अनेकों देशों का भ्रमण किया। ये राजा-साहब मुरसान वृन्दावन वालों के नाम से जाने जाते हैं व लेखक से दो तीन बार मिल भी चुके हैं। धार्मिक विचार के सज्जन व्यक्ति रहे हैं।

किन्तु वर्तमान युग में ऐसे अनेक तथाकथित सम्प्रदायों और साधना-पद्धतियों का आविष्कार हुआ है जो मिथ्यात्व पर आधारित और वणिक वृत्तिसे प्रेरित हैं। इन शास्त्र विरुद्ध पद्धतियों के चातुर्य-कला-निष्णात् प्रवर्तक, भोले-भाले मनुष्यों को अपने निरर्थक वाग्जाल में उलझाकर उनको शांति अथवा आनन्द का काल्पनिक आभास (भ्रम) करा देने में सफल हो जाते हैं और उनको पथभ्रष्ट करके अपना-अपना स्वार्थ सिद्ध कर रहे हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपनी निम्नांकित पंक्तियों में जो भविष्य वाणी की थी वह आज सत्य प्रमाणित हो रही है:—

कलिमल ग्रसे धर्म सब, लुप्त भये सद्ग्रंथ।
दंभिन्ह निजमति कल्पिकरि, प्रकट किये बहुपंथ।

मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा।
पंडित सोइ जो गाल बजावा॥
मिथ्यारम्भ दम्भ-रत जोई।
ता कहुँ सन्त कहइ सब कोई॥
सोइ सयान जो पर धन हारी।
जो कर दम्भ सो बड़ आचारी॥
जो कह झूठ मसखरी जाना।
कलियुग सोइ गुनवन्त बखाना॥
निराचार जो श्रुति पथ त्यागी।
कलियुग सोइ ज्ञानी सो विरागी॥
जाकें नख अरु जटा बिसाला।
सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥

असुभ वेष भूषन धरें, भक्ष्य भक्ष्य जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्धनर, पूज्य ते कलियुग माहिं॥

ऐसे मिथ्या मार्गों का आश्रय लेकर सत्य का अनुसन्धान कर पाना कदापि सम्भव नहीं है। मन को भुलावे में डालने के तो अनेक साधन हैं, भौतिक विषयों में सुख की मिथ्यानुभूति को सत्य मानने वाला यह मन पूर्व से ही एक बहुत बड़े भुलावे में उलझा है, किन्तु इस सबका परिणाम ब्रह्मानन्द की उपलब्धि तो नहीं हो सकता। कबीर ने कहा भी है—

झूठे सुख को सुख कहैं, मानत हैं मन मोद।
जगत चबैना काल का, कछु मुख में कछु गोद॥

ब्रह्मानन्द काल्पनिक विषय नहीं अपितु जगमगाता हुआ चिरन्तन सत्य है, और इसलिये उसे वही जान सकता है जिसने उसके रसास्वादन का अवसर पाया हो, कल्पना-जगत में विचरण करने वालों को उस दिव्य-रस की अनुभूति नहीं हो सकती—

बोध न जानहिं ब्रह्म सुख, कल्पना पथिका सुक्ख।
करे कल्पना ब्रह्म सुख, अनुभव विषय न तुच्छ॥

विश्व-शान्ति

संस्कृति सदा से सीख देती दीन दलितों के, दुःख द्वन्द्व दूर करें, लक्ष्य हो हमारा है।
'जियो और जीने दो', ध्येय युग-युग से रहा, सत्य धर्म विश्व प्रेम, हमने प्रसारा है।
मित्र मान मानवों को, 'शङ्कर' सनेह सनी, घर-घर बहाई, विशेष प्रेम-धारा है।
भ्रान्ति भर भ्रान्त जन, करते अशान्ति योग, हम शान्ति चाहें हमें, जन-जन प्यारा है।

—श्री गौरीशङ्कर द्विवेदी 'शङ्कर'

श्रीमद्भागवत से—

मोक्ष-धर्म कैसे ?

● प्रेषक—श्री ओमप्रकाश पाठक, आगरा

नारद जी कहते हैं, युधिष्ठिर ! कुछ ब्राह्मणों की निष्ठा कर्म में, कुछ की तपस्या में, कुछ की वेदों के स्वाध्याय और प्रवचन में, कुछ की आत्म-ज्ञान के सम्पादन में तथा कुछ की योग में होती है। गृहस्थ पुरुष को चाहिए कि श्राद्ध अथवा देव-पूजा के अवसर पर अपने कर्म का अक्षय फल प्राप्त करने के लिए ज्ञान-निष्ठ पुरुष को ही हव्य-कव्य का दान करे। यदि वह न मिले तो योगी, प्रवचनकार आदि को यथायोग्य और यथाक्रम देना चाहिए। देवकार्य में दो और पितृकार्य में तीन अथवा दोनों में एक-एक ब्राह्मण को भोजन कराना चाहिए। अत्यन्त धनी होने पर भी श्राद्ध कर्म में अधिक विस्तार नहीं करना चाहिए, क्योंकि सगे सम्बन्धी आदि सज्जनों को देने से और विस्तार करने से देश-कालोचित श्रद्धा, पदार्थ, पात्र और पूजन आदि ठीक-ठीक नहीं हो पाते। देश और काल के प्राप्त होने पर ऋषि-मुनियों के भोजन करने योग्य शुद्ध हविष्यान्न भगवान को भोग लगाकर श्रद्धा से विधिपूर्वक योग्य पात्र को देना चाहिए। वह समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाला और अक्षय होता है। देवता, ऋषि, पितर, अन्य प्राणी स्वजन और अपने आपको भी अन्न का विभाजन करने के समय परमात्मा स्वरूप ही देखे।

धर्म का मर्म जानने वाला पुरुष श्राद्ध में मांस का अर्पण न करे और न स्वयं ही उसे खाय, क्योंकि पितरों को ऋषि-मुनियों के योग्य हविष्यान्न से जैसी प्रसन्नता होती है, वैसी पशु हिंसा से नहीं होती। जो लोग सद्धर्म पालन की अभिलाषा रखते हैं, उनके लिए इससे बढ़कर और कोई धर्म नहीं है कि किसी भी प्राणी को मन, वाणी और शरीर से किसी प्रकार का कष्ट न दिया जाय। इसी से कोई-कोई यज्ञ तत्व को जानने वाले ज्ञानी ज्ञान के द्वारा प्रज्वलित आत्म-संयम रूप अग्निमें इन कर्ममय यज्ञों का हवन कर देते हैं और बाह्य कर्म-कलापों से उपरत हो जाते हैं। जब कोई इन द्रव्यमय यज्ञों से यज्ञ न करना चाहता है, तब सभी प्राणी डर जाते हैं। वे सोचने लगते हैं कि यह अपने प्राणों का पोषण करने वाला निर्दयी कर्ता मुझे अवश्य मार डालेगा। इसलिए धर्मज्ञ मनुष्य को यही उचित है कि प्रति दिन प्रारब्ध के द्वारा प्राप्त मुनिजनोचित हविष्यान्न से ही अपने नित्य और नैमित्तिक कर्म करे तथा उसी से सर्वदा सन्तुष्ट रहे।

अधर्म की पांच शाखायें है—विधर्म, परधर्म, आभास, उपमा और छल। धर्मज्ञ पुरुष अधर्म के समान ही इसका भी त्याग करदे। जिस कार्य को धर्मबुद्धि से करने पर भी अपने धर्ममें बाधा पड़े, वह 'विधर्म' है। किसी अन्य के द्वारा अन्य पुरुष के लिए उपदेश किया हुआ धर्म 'परधर्म' है। पाखण्ड या दम्भ का नाम 'उपधर्म' अथवा 'उपमा' है। शास्त्र के वचनों का दूसरे प्रकार का अर्थ कर लेना 'छल' है। मनुष्य अपने आश्रय के विपरीत स्वेच्छा से जिसे धर्म मान लेता है वह 'आभास' है। अपने अपने स्वभाव के अनुकूल जो वर्णाश्रमोचित धर्म है वे भला किसे शान्ति नहीं देते।

धर्मात्मा पुरुष निर्धन होने पर भी धर्म के लिए अथवा शरीर-निर्वाह के लिए धन प्राप्त करने की चेष्टा न करें। क्योंकि जैसे बिना किसी प्रकार की चेष्टा किये अजगर की जीविका चलती ही है वैसे ही निवृत्ति-परायण पुरुष की निवृत्ति ही उसकी जीविका का निर्वाह कर देती है, जो सुख अपनी आत्मा में रमण करने वाले निष्क्रिय सन्तोषी पुरुष को मिलता है, वह उस मनुष्य को भला कैसे मिल सकता है, जो कामना और लोभ से धन के लिए हाय-हाय करता हुआ इधर-उधर दौड़ता फिरता है। जैसे पैरों में जूता पहनकर चलने वाले को कङ्कड़ और कांटों से कोई डर नहीं होता, वैसे ही जिसके मन में सन्तोष है, उसके लिए सर्वदा और सब कहीं सुख ही सुख है। दुःख है ही नहीं। न जाने क्यों मनुष्य केवल जलपान से ही सन्तुष्ट रहकर अपने जीवन का निर्वाह नहीं कर लेता, अपितु इसने इन्द्रिय और जननेन्द्रिय के फेर में पड़कर वह बेचारा घर की चौकसी करने वाले कुत्तों के समान हो जाता है। जो ब्राह्मण सन्तोषी नहीं है, इन्द्रियों की लोलुपता के कारण उसके तेज, विद्या, तपस्या और यश क्षीण हो जाते है और वह विवेक भी खो बैठता है। भूख और प्यास मिट जाने पर खाने-पीने की कामना का अन्त हो जाता है। क्रोध भी अपना काम पूरा करके शान्त हो जाता है। परन्तु यदि मनुष्य पृथ्वी की समस्त दिशाओं को जीत ले और भोग ले, तब भी लोभ का अन्त नहीं होता। अनेक विषयों के ज्ञाता, शङ्काओं का समाधान करके चित्त में शास्त्रोक्त अर्थ को बैठा देने वाले और विद्वत्सभाओं के सभापति बड़े-बड़े विद्वान भी असन्तोष के कारण गिर जाते है।

सङ्कल्पों के परित्याग से काम को कामनाओं के त्याग से क्रोध को, संसारी लोग जिसे 'अर्थ' कहते हैं उसे अनर्थ समझकर लोभ को और तत्त्व के विचार से भय को जीत लेना चाहिए। अध्यात्म विद्या से शोक और मोह पर, सन्तों की उपासना से दम्भ पर, मौन के द्वारा योग के विघ्नों पर और शरीर, प्राण

आदि को निरुद्ध करके हिंसा पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। आधिभौतिक दुःख को दया के द्वारा, आधिदैविक वेदना को समाधि द्वारा और आध्यात्मिक दुःख को योग-बल से एवं निद्रा को सात्विक भोजन, ध्यान, मन्त्र आदि के सेवन से जीत लेना चाहिए। सत्त्व के द्वारा रजोगुण एवं तमोगुण पर और उपरति के द्वारा सत्त्वगुण पर विजय प्राप्त करनी चाहिए।

"श्री गुरुदेव जी की भक्ति के द्वारा साधक इन सभी दोषों पर सुगमता से विजय प्राप्त कर सकता है। हृदय में शान्ति का दीपक जलाने वाले गुरुदेव साक्षात् भगवान ही हैं। जो दुर्बुद्धि पुरुष उन्हें मनुष्य समझता है, उसका समस्त शास्त्र श्रवण हाथी के स्नान के समान व्यर्थ है। बड़े-बड़े योगेश्वर जिनके चरण-कमलों का अनुसन्धान करते रहते हैं, प्रकृति और पुरुष के अधीश्वर वे स्वयं भगवान ही गुरुदेव के रूप में प्रकट हैं। इन्हें लोग भ्रम से मनुष्य मानते हैं।"

—० ग्राहकों से निवेदन ०—

प्रस्तुत अङ्क 'सिद्धयोग' के दसवें वर्ष का ग्यारहवां अङ्क है। इस अङ्क के पहुँचने के उपरान्त मार्च १९७८ का अङ्क जो १०वें वर्ष का बारहवां अङ्क होगा, ग्राहक-बन्धुओं की सेवा में और प्रेषित किया जायगा। इस बारहवें अङ्क के पहुँचने के पश्चात् दसवें वर्ष का जो मूल्य जमा कराया गया था वह समाप्त हो जायेगा। अप्रैल ७८ का अंक नये ११वें वर्ष के विशेषांक के रूप में अति उपयोगी सामग्री एवं नवीन आकर्षक रंग-रूप में प्रकाशित होगा। अतः सभी ग्राहक-बन्धुओं से जो इस वर्ष 'सिद्धयोग' के ग्राहक रहे हैं, नये ग्यारहवें वर्ष का मूल्य १२ रुपये मनीआर्डर द्वारा 'सिद्धयोग कार्यालय' सवाई (आगरा) के पते पर भेजने का हम अनुरोध करते हैं, ताकि नवीन वर्ष का विशेषांक उन्हें प्रकाशित होते ही यथा समय भेजा जा सके। मनीआर्डर भेजने के साथ ही यदि पते में कोई परिवर्तन हुआ हो तो ग्राहक भाई-बहन अपने परिवर्तित पते की सूचना भी लिखा भेजें।

नवीन साधक भाई-बहनों से भी हम अनुरोध करेंगे कि अगर वे अब तक 'सिद्धयोग' के ग्राहक नहीं बने हैं तो उन्हें अब अपना मूल्य १२ रुपये भेजकर ग्राहक बन जाना चाहिए। योग के क्षेत्र में हिन्दी में प्रकाशित होने वाले पत्रों में 'सिद्धयोग' ही एक ऐसा पत्र है जो योग अंगों की परिभाषा और उसकी विशद्-व्याख्या पर प्रतिमास पठनीय और विचारणीय सामग्री से सम्पन्न होकर योग-विद्या के जिज्ञासुओं की सन्तुष्टि करता है।

'सिद्धयोग' वी० पी० से मंगाने पर वार्षिक मूल्य के अलावा लगभग तीन रुपया अतिरिक्त व्यय और ग्राहकों पर लग जाता है, अतः मूल्य यथा-सम्भव मनीआर्डर द्वारा ही भेजा जाना चाहिए।

—श्रीनाथ शर्मा ब्रह्मचारी

व्यवस्थापक—'सिद्धयोग', सिद्धयोग कार्यालय, सवाई-आगरा

योग में नवीन साधकों के लिए

आरम्भावस्था

❀ श्री हीरालाल शास्त्री, फर्रुखाबाद

योग के लिए योगेश्वर घेरण्ड जी के विचार तदनुसार साधन क्रम-सर्व प्रथम शरीर शुद्धि की जाती है—

आम कुम्भमिवाम्भस्थो
जीर्यमाणः सदा घटः ।
योगानलेन संदह्य घट
शुद्धिं समाचरेत् ॥

अर्थात् शरीर कच्चे घड़े के समान है और योग अग्नि के समान है यथा—कच्चे घड़े में जल भर कर रखने से घड़ा शनैः-शनैः गलकर नाम मात्र शेष रह जाता है यदि वही घड़ा अग्नि योग से पका दिया जाय तो स्थाई (पक्का) हो जाता है। इसी प्रकार सजीव देह सदा ही जीर्ण होकर लय को प्राप्त हो जाता है इस कारण ही शरीर को योगभ्यास रूपी अग्नि से पका लेना उचित और लाभदायक होता है—

शोधनं, दृढता चैव स्थैर्यं
धैर्यं च लाघवम् ।
प्रत्यक्षं निर्लिप्तं च
घटस्थं सप्त साधनम् ।

शोधन, दृढ़ता, स्थैर्य, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष, निर्लिप्त यह सात साधन बताये हैं—

षट्कर्मणा शोधनञ्च,
आसनैः दृढता भवेत् ।
मुद्राभिः स्थिरता चैव
प्रत्याहारेण धीरता ॥
प्राणायामाल्लाघवञ्च,
ध्यानात् प्रत्यक्षमात्मनि ।
समाधिना च निर्लिप्तं
मुक्तिरेव न संशयः ॥

धौति आदि से शोधन, आसनों से दृढ़ता, मुद्राओं से स्थिरता, प्रत्याहार से धैर्य, प्राणायाम से लाघव, ध्यान से अपने आत्मा में ध्येय पदार्थ का दर्शन, समाधि द्वारा निर्लिप्ता अर्थात् वासना शून्य होकर अन्त में मुक्तिलाभ होना—

धौतिर्बस्तिस्तथानेति
लौलिकी त्राटकं यथा ।
कपालभातिश्चैतानि
षट्कर्माणि समाचरेत् ॥

धौति, बस्तिक नेति लौलिकी, त्राटक,

कपाल भाति, यह षट कर्म बताये हैं।

धौतिः के भेद—अन्तर्धौतिः, दन्त धौतिः, हृद्धौतिः, मूल शोधन यह चार प्रकार की है फिर इन सबके अलग-अलग भेद बतलाये गये हैं जिनका वर्णन फिर समय से होगा।

वस्ति—जल वस्ति और शुष्क वस्ति इस प्रकार वस्ति के दो भेद बताये हैं यथा—

जल वस्तिः शुष्क वस्तिः
वस्तिः स्यात् द्विविधा स्मृता।
जल वस्ति जले कुर्यात्
शुष्क वस्ति सदा क्षितौ—

इनका वर्णन फिर ही होगा।

नेतिः—नेतिः का भी वर्णन आगे ही किया जयगा।

लौकिकी—इसका वर्णन भी समयानुसार ही होगा।

त्राटक—इसे भी उसी प्रसंग में आगे लिखेंगे।

कपालभाति—यह वातक्रम कपालभाति, व्युत्क्रम कपालभाति, शीतक्रम कपालभाति तीन प्रकार की होती है उसका वर्णन भी समय पर ही होग।

इस प्रकार इन सबके भेदों को भी आगे विस्तार पूर्वक लिखे जायेंगे। सावधानता से करके यह उक्त साधन करके घट (शरीर) शोधन करके ही योग साधन में प्रवृत्त होने पर अवश्य ही सिद्धि प्राप्ति होती है परन्तु केवल लेख पढ़कर ही न करे किसी गुरु की सन्निधि में करने से शीघ्र और अवश्य सिद्धि मिलती है।

❀ सुलेखकों और सुकवियों से नम्र निवेदन ❀

'सिद्धयोग' के ११ वें वर्ष का प्रवेशाङ्क-विशेषाङ्क सदा की भांति अप्रैल सन् १९७८ में परम करुणा वरुणालय श्री प्रभुजी की पावन जयन्ती के शुभ अवसर प्रकाशित होगा। विशेषाङ्क में लगभग एक सौ पृष्ठ तथा इकरंगे व बहुरंगे चित्र भी रहेंगे। विशेषाङ्क की छपाई का कार्य मार्च मास के आरम्भ से चालू हो जायगा अतः 'सिद्धयोग' के उन सभी विद्वान सुलेखकों और सुकवियों से—जिनके विचारपूर्ण लेख सिद्धयोग में प्रायः छपते रहे हैं—मुझे यह निवेदन कर देने का आदेश श्रद्धेय श्री गुरुदेव जी की ओर से प्राप्त हुआ है कि सभी सुलेखक और सुकवि अपनी-अपनी रचना-सामग्री फरवरी के अन्त तक ही आश्रम के पते पर भेज देने की कृपा करें ताकि उन्हें विशेषाङ्क में उचित स्थान पर छापा जा सके। लेख और रचनायें योगाङ्गों अथवा सिद्धयोगियों के चारुचरित्रसे सम्बन्धित हों इसका विशेष ध्यान रखना चाहिए।

विनीतः
संयुक्त सम्पादक, सिद्धयोग
श्री सिद्धगुफा, सवाई आश्रम जामरा

शरीर-संवर्द्धक व्यायाम !

❀ श्री विनयमोहन शर्मा

[निरापद सुखमय जीवनयापन के लिए शरीर का स्वस्थ रहना अति आवश्यक है। और शरीर को स्वस्थ रखने के लिए नियमित व्यायाम अति आवश्यक है और यह भी निर्विवाद है कि शारीरिक व्यायामों की प्रक्रिया में योगासनों की प्रक्रिया सर्वोत्तम है, जिन्हें किसी अनुभवी गुरु से सीखकर उनके निर्देशन में करना चाहिए। प्रस्तुत लेख में विद्वान लेखक ने व्यायाम क्यों और कैसे करना चाहिए? इस पर सविस्तार अपने विचार व्यक्त किये हैं। आशा है 'सिद्धयोग' के पाठक लेखक के विचारों और परामर्श से समुचित लाभ उठायेंगे। —सं० सम्पादक]

व्यायाम का मुख्य उद्देश्य शरीर को मांसल बनाना नहीं है। उभरी हुई मांसपेशियों में स्वास्थ्य नहीं भरा रहता। कई बार डाक्टरों ने प्रसिद्ध पहलवानों के शरीर की परीक्षा की है और उन्हें हृदय-रोग, बद्ध-कोष्ठता, यकृत-विकार, बवासीर आदि रोगों का शिकार पाया है। व्यायाम का उद्देश्य शरीर के अवयवों को स्वस्थ तथा कार्यकारी बनाना है। जो व्यायाम इस उद्देश्य की पूर्ति कर सकते हैं वे ही मनुष्य को दीर्घायु बना सकते हैं। दुनिया भर में विभिन्न तरह के व्यायाम प्रचलित हैं।

व्यायाम करने से लाभ होता है यह निश्चित है। हां, जिनके शरीर में कोई अवयव (Organic) सम्बन्धी रोग हो, उन्हें ही व्यायाम का मधुर फल नहीं मिल पाता। व्यायाम पर सभी दृष्टिकोण से विचार करने के लिए कुछ समय पूर्व अमरीका की हडसन नदी के किनारे लगभग ढाई हजार 'संघों' के सदस्य एकत्र हुए थे। उनमें से वाल्टर मिक्सन ने विभिन्न व्यायामों की चर्चा करते हुए कहा कि जो कसरतें जर्मन जीमनाजियम के नाम से प्रसिद्ध हैं, वे स्वास्थ्यवर्द्धक नहीं हैं वे फौजी ड्रिल के सिद्धान्त पर तैयार की गई हैं। उनसे शरीर के भीतरी अवयव पुष्ट नहीं होते। यूरोप में अब डेनमार्क के नृत्यों से ली गई कसरतें अधिक प्रचलित हो रही हैं। उसका कारण है वह यह कि उनसे शरीर में लोच आता है, मांसपेशियां जर्मन कसरतों के समान कड़ी न होकर लचकदार बनती हैं। रूस और इटली की कसरतें भी ड्रिल के सिद्धान्त पर निर्धारित की गई हैं अतः अस्वास्थ्यकर हैं।

यह आप दुर्घटनाओं से अपने को बचाना चाहते हैं तो शरीर को लचीला बनाइये। बेड-

दण्ड के लचीलेपन से हमें घातक चोट नहीं आ पायेगी। क्योंकि गिरने की दशा में वह टूटने के बजाय लच जायगा। जिनके अवयव कड़े होते हैं, उनमें लोच नहीं होती, वे गिरने आदि दुर्घटनाओं के समय बड़ी बुरी चोट खा जाते हैं। कइयों की हड्डियां ही कड़क जाती, टूट जाती हैं। लचीलेपन से और भी लाभ हैं। शरीर में फुर्ती आती है, अनेक व्याधियों को दूर रखने की क्षमता रहती है।

व्यायाम किसे करना चाहिए?

व्यायाम के लिए कोई खास प्रतिबन्ध नहीं है। वह प्रत्येक उम्र के व्यक्ति द्वारा किया जा सकता है। बच्चा पैदा होते ही हाथ-पांव फैलाकर और तानकर व्यायाम करने लगता है। जिन बच्चों को खुली हवा में हाथ-पैर खोलने-मोड़ने का अवसर नहीं मिलता, वे अक्सर बीमार रहा करते हैं। एक हँसोड़े ने व्यायाम करने वालों की तीन श्रेणियां की हैं। वह लिखता है—"व्यायाम वह करता है जो (१) यह समझता है कि मैं बहुत मोटा हो रहा हूँ, (२) जिन्हें डाक्टर ने कहा है कि व्यायाम करो और (३) वह जो किसी युवती के प्रति मदमाता पागल बनकर आकर्षित हो गया है।" ये कारण निरे तथ्यहीन नहीं हैं। बुढ़ापा छांटने के लिए बाजार में बिकने वाले कामदेव स्तंभन की गोलियों को खाने की अपेक्षा खिंचाव के व्यायाम करना अधिक निरापद है। आजकल यूरोप, अमरीका की सुन्दरियों में छरहरी बनने का एक फैशन बन गया है। अतः बाजार में अपनी मनोकामना की पूर्ति करने के लिए तरह-तरह की पेटेंट दवाइयां ईजाद होकर बिक रही हैं। अभी कुछ समय की बात है, बुडापेस्ट नगर की तीन प्रसिद्ध अभिनेत्रियों ने इन्हीं पेटेण्ट दवाइयों के द्वार पर अपनी बलि चढ़ाई है। उनमें से एक-दो ने तो उपवास चिकित्सा का भी सहारा लिया था पर उपवास की भी तो हद होती है। अनावश्यक उपवास से प्राण-शक्ति घटती है। छटने के लिए उचित व्यायाम और भोजन की आवश्यकता है। क्योंकि छटने की क्रिया एक दिन में समाप्त नहीं होती, उसके लिए महीनों लगते हैं। जो हर बात में शीघ्र परिणाम देखना चाहते हैं उन्हें उसकी बड़ी से बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है—प्राण तक। अतः छँटने की कामना रखने वालों से निवेदन है कि वे खिंचाव के व्यायाम या आसन करें और अपने भोजन से स्निग्ध तथा प्रोटीन वाले पदार्थ अलग कर दें। छँटने की कामना रखने वालों के अतिरिक्त जो घर ही में बैठकर काम करने के आदी हैं, उन्हें भी व्यायाम करना चाहिए। खुली हवा में कम से कम पन्द्रह मिनट तो खिंचाव के व्यायाम करना ही चाहिए। आज स्त्रियों को भी व्यायाम आवश्यक हो गया है। पिछले युग की स्त्रियां

अपने घर के काम-काज ही इतना कर लेती थीं कि उन्हें अतिरिक्त व्यायाम की जरूरत ही नहीं महसूस होती थी पर इस जमाने की स्त्रियां परिश्रम से चौंकती हैं। वे घर की मामूली झाड़ू निकालना भी अपमानास्पद समझती हैं। यही कारण है कि वे अपस्मार (हिस्टीरिया), बद्धकोष्ठता, कठिन प्रसूति, क्षय, बदहजमी और न जाने कितने रोगों की शिकार बनी रहती हैं। ऐसी दशा में स्त्रियों को व्यायाम की बड़ी आवश्यकता है। खिंचाव के व्यायाम (ताड़ासन, पश्चिमोत्तान, कोणासन आदि) उन्हें लाभदायक सिद्ध होंगे। यदि वे यह भी न करना चाहें तो रोज सुबह पन्द्रह मिनट बिना नागा चक्की ही चलाया करें। चक्की का व्यायाम ऐसा है जो हर परिस्थिति में किया जा सकता है। यही एक ऐसा व्यायाम है जो जिसे गर्भावस्था में भी किया जा सकता है। जिन स्त्रियों को बच्चे होते समय बेहद कष्ट होता है वे गर्भावस्था में चक्की के व्यायाम को अवश्य करें। यह एक अचूक उपाय है। उन्हें प्रसूति की पीड़ा से बेजार नहीं होना पड़ेगा।

शरीर-ग्रन्थियां और व्यायाम

शरीर के अन्दर विभिन्न स्थानों में ग्रन्थियां हैं जिन्हें 'चक्र' कहते हैं। इन ग्रन्थियों का काम शरीर के भागों में अपना 'द्रव' पदार्थ स्रवित करना है। कुछ ग्रन्थियों का इतना महत्त्व नहीं है जितना थायरायड, गले की एक ग्रन्थि, सूर्य तथा मूलाधार चक्र का है। इस अन्तिम ग्रन्थि को अब एलोपैथी के डाक्टर भी सर्व शक्तिशाली समझने लगे हैं। यह ग्रन्थि जनन-शक्ति का सन्तुलन तो करती ही है, वह अन्य ग्रन्थियों पर भी अपना प्रभाव डालती है। यह थायरायड, पैराथायरायड आदि ग्रन्थियों को भी उत्तेजित करने में सहायता देती है। मस्तिष्क के भाग को भी प्रभावित करने की शक्ति उसमें है। मनुष्य के व्यक्तित्व को घटाने-बढ़ाने में भी इस ग्रन्थि का बड़ा हाथ समझा जाने लगा है। अमरीका के प्रोफेसर हैरिस ने ग्रन्थियों के विषय में जो खोज की है, उसका यह निष्कर्ष है। मनुष्य का स्वास्थ्य ग्रन्थियों पर कितना अवलम्बित रहता है, यह तो जो डा० वनराफ की ग्रन्थि-चिकित्सा से परिचित हैं, वे अनुमान कर सकते हैं। डा० वनराफ दूसरे जीवधारी की ग्रन्थि को निकाल कर मनुष्य के शरीर में भर देते थे, परन्तु योग मनुष्य की कमजोर ग्रन्थियों को ही बलवान बनाकर मनुष्य को जीवन से परिपूर्ण बनाने का दावा करता है।

ग्रन्थियां विकसित कैसे होती हैं ?

ग्रन्थियों को विकसित करने का उपाय सरल है। कुछ ऐसे व्यायाम हैं जिनसे अन्दर की नस-नाड़ियों में स्पन्दन और खिंचाव होता है। वे मनुष्य की भीतरी ग्रन्थियों को सचेत बनाने में सहायता पहुँचाते हैं। कुछ भोज्य-पदार्थ भी इस कार्य में मदद देते हैं। यदि

कोई दूध का ही आहार लेता रहे तो थाय-रायड ग्रन्थि का रस शरीर में सहज पहुँचने लगता है। आसनों में सर्वांगासन, मत्स्यासन, उड्डियान-नौली तथा विभिन्न प्राणायाम उपयोगी हैं। शरीर के चक्रों पर मन को केन्द्रित कर उन्हें संकेत देने से भी यह जाग्रत होने लगता है। खास-खास चक्रों के जाग्रत होने पर शरीर और मनके स्वास्थ्यमें आश्चर्य-जनक परिवर्तन दिखाई देते हैं।

प्रसिद्ध अंग्रेज सर्जन 'लेन' और व्यायाम

इङ्गलैण्ड के प्रसिद्ध सर्जन सर लेन का नाम चिकित्सा-जगत में आदर के साथ लिया जाता है। आपने बद्धकोष्ठता दूर करने के लिए 'बड़ी अंतड़ी' के इंगलैण्ड में ६० प्रतिशत आपरेशन किये। परन्तु जब उन्होंने देखा कि इससे बद्धकोष्ठता दूर नहीं होती तो उन्होंने प्रकृति के रहस्य को समझने की कोशिश की और बादमें विलायत में 'प्राकृतिक चिकित्सा' के जबरदस्त हामी बने। उन्होंने व्यायाम द्वारा अनेक रोग दूर करने का श्रेय प्राप्त किया है। अमरीका के प्रसिद्ध व्यायाम-पत्र 'फिजीकल कल्चर' में वे लिखते—

"व्यायाम शरीर के लिए उतना ही आवश्यक है जितना हवा, पानी और भोजन। यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि लोगोंका विश्वास अब दवाइयों पर से उठता जा रहा है। दवाइयों से स्वास्थ्य-लाभ नहीं किया जा सकता। स्वास्थ्य तो शुद्ध वायु, सूर्य का विपुल प्रकाश और सादे भोजन तथा व्यायाम से ही प्राप्त किया जा सकता है। सूर्य-स्नान से शरीर की जीवनी-शक्ति बढ़ती है, इसका अनुभव अब लोगों को होने लगा है। व्यायाम से मज्जा-तन्तुओं की पुष्टि और विकास होता है, उदर की मांसपेशियों और अन्तड़ियों में उत्तेजना पहुंचती है। कमजोर पेट ही बीमारियों का कारण है। व्यायाम से पेट के भीतरी यन्त्र का स्वास्थ्य सुधरता है। प्रत्येक अंग अपना कार्य सुचारु रीतिसे करने लगता है। हमें भोजनमें ऐसे पदार्थों का ही सम्मिश्रण करना चाहिए जिनमें खनिज नमक, भूसी और विटामिन के तत्त्व विद्यमान हों। व्यायाम खुली हवा में, सूर्य-प्रकाश में करना चाहिए। व्यायाम को भी एक प्रकार का खेल समझना चाहिए। इंगलैंड में मार्गरेट मारिस ने एक ऐसी व्यायाम-पद्धति निकाली है, जिससे नृत्य और व्यायाम दोनों ही सध जाते हैं। नाचते-नाचते ही कसरत हो जाती है। उसने व्यायाम को हल्का और खेल जैसा आह्लाद का साधन बनाने के लिए ही इस नृत्य-व्यायाम का आविष्कार किया है। अतः व्यायाम करने वालों को प्रत्येक मास अदल-बदलकर अपनी रुचिके अनुसार व्यायाम करते रहना चाहिए।"

परन्तु हठयोग की व्यायाम पद्धति सबसे अधिक लाभदायक और सस्ती सिद्ध हुई है। उससे (१) कम परिश्रम में अधिक शक्ति का

संचय होता है, (२) शरीर ऑक्सीजन से नहा उठता है, (३) शानतन्तु पुष्ट बनते और सेहत अनुभव करते हैं, (४) शरीर में स्थित भीतरी चक्रों, ग्रन्थियों का स्राव व्यवस्थित हो जाता है, (५) रुधिराभिसरण ठीक हो जाता है, (६) शरीर सुडौल बनकर स्वास्थ्यमय बन जाता है शरीरके स्वस्थ बननेसे रीढ़ तथा मस्तिष्क की नसों में उचित परिमाण में रक्त सञ्चार होता है, जिससे शरीर की कार्यक्षमता बढ़ती है। यहाँ हम कुछ ऐसे आसनों का वर्णन करते हैं, जिनका अभ्यास आसानी से हो सकता है।

ताड़ासन

सीधे खड़े हो जाइये। दोनों पैरों में चार इंच का अन्तर रखिये। दोनों हाथ दोनों ओर नीचे रखिए। अब एक हाथ को धीरे धीरे सामने से सिर के ऊपर सीधा ले जाकर छत को छूने के प्रयत्न में पैर की एड़ी उठाकर तानिये, इसी तरह दूसरे हाथ से कीजिये। दोनों हाथों के साथ ही दोनों एड़ियों को उठाकर सिर के ऊपर ले जाकर छत को छूने का प्रयत्न कीजिये। ताड़ासन से पेट, छाती और पृष्ठ भाग का विशेष रूप से खिंचाव होता है और उनका रुधिराभिसरण सुधरता है। इस आसन को पांच से दस बार किया जा सकता है।

त्रिकोणासन

छः इंच के फासले पर दोनों पैरों को जमा कर जमीन पर सीधे खड़े हो जाइये। अब धीरे-धीरे दाहिनी ओर झुककर दाहिने हाथ से दाहिने पैर का अँगूठा पकड़ लीजिये। इसी समय बायें हाथ को फैलाकर सिर के ऊपर ले जाकर त्रिकोणाकृति में रखिये। कुछ सैकिंड के बाद पहली स्थिति में आ जाइये। इसी तरह बायीं ओर झुककर बायें हाथ से बायें पैर का अँगूठा पकड़कर दाहिने हाथ को सिर के ऊपर ले जाकर त्रिकोणाकृति बनाकर खींचिये। यह सम्पूर्ण त्रिकोणासन हुआ, इससे पेट, पीठ और पैरके तन्तुओं पर तनाव पड़ता है जिससे उनमें तेजी से रक्त-संचार होता है। इसे पांचसे दस बार तक किया जा सकता है।

अर्द्ध-कमानासन

पैरों में छः इंच का फासला देकर खड़े हो जाइये। अब दोनों हाथों को धीरे-धीरे खींचते हुए सिर के ऊपर ताड़ासन के समान ले जाइये। फिर धीरे-धीरे पीछे की ओर कमर मोड़ते हुए जितना सम्भव हो, हाथों को तानते हुए ले जाइये। कुछ क्षण ठहरकर ताड़ासन की स्थिति में आ जाइये। यहां भी कुछ सैकिंड ठहरकर घुटनों को बिना मोड़े जमीन की ओर दोनों हाथों को ले जाकर फर्श छूने का प्रयत्न कीजिये। इससे पैर, पेट, छाती, सिर, हाथ, पीठ, सभी अंगों का खिंचाव हो जाता है और उनमें रक्त का संचार तेजी से होने लगता है। इस आसन को पांच से दस बार तक किया जा सकता है।

सर्वांगासन

'सर्वांगासन से समस्त अंग का स्वास्थ्य स्थिर रहता है। इसीलिए इसका नाम सर्वांगासन रखा गया है। हमारे गले में थायरायड ग्रन्थि है। जब यह ग्रन्थि अपना कार्य सुचारु रूप से करती है तो व्यक्ति का स्वास्थ्य अच्छा रहता है। यह ग्रन्थि भीतरी अवयवों में अपना रस भेजती है। जब इस रस का आभ्यान्तर स्राव अव्यवस्थित हो जाता है। (आवश्यकता से अधिक या कम) तभी मनुष्य का स्वास्थ्य गिरने लगता है। यहां तक कि बालों में भी असमय में ही सफेदी आने लगती है। सर्वांगासन गले की इस ग्रन्थि को स्वस्थ रखता है, इसीलिये योग ग्रंथों में सर्वांगासन के अभ्यासी को चिर-यौवनभोक्ता कहा गया है। सर्वांगासन से यकृत, प्लीहा तथा वीर्य सम्बन्धी अनेक रोग दूर होते देखे गये हैं।

विधि—समतल जमीन पर नरम बिस्तर बिछा लीजिये और सीधे चित लेट जाइए। फिर धीरे-धीरे दोनों पैरों को बिना मोड़े सीधे उठाइये और जमीन से ९० डिग्री का कोण बनाकर कुछ समय तक यहीं रुकिए और फिर कमर को दोनों हाथों का सहारा देकर पैरों को ऊँचे उठाकर छत की ओर ले जाइए और वहीं ऊपर सीधे रखिए और चिबुक को गले के गर्त में छाती की ओर लगाने का प्रयत्न कीजिए। यह सर्वांगासन की स्थिति हो गई। अब इस स्थिति में ३० सैकिण्ड प्रतिदिन से शुरू कर क्रमशः १५ मिनट तक अभ्यास बढ़ा लीजिए। लोनावला योग-संस्थान के संस्थापक स्वामी कुवलयानन्दजी ने इस आसन से एक कोढ़ी की भी चिकित्सा की थी। एक पारसी कुमारी के शरीर के असाध्य घोषित किये गये चर्मरोग को भी उन्होंने इसी आसन से चिकित्सा की थी और कुछ महीनों के अभ्यास से ही उसकी त्वचा स्वच्छ निखर आई थी। इस आसन का अभ्यास शाम को करना चाहिए। पित्त प्रकृति के व्यक्तियों को प्रातः करने से हो सकता है, अति पित्त-स्राव से सिर दर्द आदि उपद्रव हों। हृदय रोगी इस आसन को न करें।

मत्स्यासन

सर्वांगासन से शरीर का पृष्ठ भाग पीछे की ओर झुकता है। मत्स्यासन से वह ऊपर की ओर उभरता है। अतएव शरीर को समुचित व्यायाम देनेके लिए अंगों को दोनों ओर मोड़ने की जरूरत है। मत्स्यासन में शरीर का आकार 'मत्स्य' जैसा दीखता है इसीलिए इसे 'मत्स्यासन' कहते हैं।

विधि—पद्मासन में बैठ जाइए (दाहिने पैर को बायीं जंघा पर और बायें पैर को दाहिनी जंघा पर रखकर बैठने की अवस्था को पद्मासन कहते हैं) और पीछे झुककर सिर जमीन पर टेककर कमर को 'कमान' जैसा बना लीजिए। हाथों को सिर के पीछे रख लीजिए या उनसे पैरों के दोनों अंगूठों को पकड़ लीजिए, यह 'मत्स्यासन' हो गया। इसे सर्वांगासन के समय से १/५ भाग का समय दीजिए यानी यदि सर्वांगासन २० मिनट तक करते हैं तो इसे ४ मिनट करना ठीक होगा। इससे कमर का टेढ़ापन और पेट के अनेक रोग अपच, मलकोष्ठता आदि दूर होते हैं। जिन्हें आन्त्र-वृद्धि (हर्निया) की शिकायत हो उन्हें इस आसन को नहीं करना चाहिए। यह आसन सर्वांगासन करने के पश्चात् ही किया जाता है। तभी उससे समुचित लाभ उठाया जा सकता है।

शीर्षासन

सर के बल खड़े होकर स्थिर रहने का नाम शीर्षासन है। इसे 'आसनों का राजा' भी कहा जाता है। क्योंकि अकेले इसी आसन के अभ्यास से समस्त रोगोंके नाश होने का दावा किया जाता है। पर जिनके कानों में सनसनाहट सी अनुभव होती हो या जिनकी आँखें बेहद खराब हो गई हों या जो हृदय के रोगी हों उन्हें शीर्षासन का अभ्यास हानिकारक सिद्ध हो सकता है।

इसी तरह दौड़कर या अन्य किसी व्यायाम के पश्चात् ही शीर्षासन करने से हानि होने की सम्भावना रहती है। 'योग-मीमांसा' में एक युवक का वर्णन प्रकाशित हुआ था। युवक लम्बी दौड़ के पश्चात् बिना अवकाश ग्रहण किये शीर्षासन करने लगता था। कुछ समय में ही उसके तालुमें रक्त के कण झलकने लगे। वह घबराया हुआ कैवल्यधाम-आश्रम लोनावाला के संस्थापक के पास गया, जहाँ उसकी चिकित्सा की गई और वह ठीक हो गया। अतएव योग की किसी भी क्रिया का अभ्यास करने के पूर्व विशेषज्ञ की सलाह ले लेनी चाहिए।

विधि—एक नरम कपड़े की कुण्डली बना कर समतल जमीन पर रखिये और दोनों हाथों की अँगुलियों की कैंची बनाकर कुण्डली में सर का अग्र भाग रख दीजिये और धीरे-धीरे हाथों की कुहनियों के सहारे शरीर के वजन को सम्हालने का प्रयत्न कीजिए और बिना झटका दिये पृथ्वी पर 'शीर्ष' के बल खड़े हो जाइये। पहले-पहल गिरने की आशंका रहेगी। इसलिए प्रारम्भ में दीवार का सहारा ले लेना चाहिए। फिर धीरे-धीरे उसका सहारा छोड़कर ही खड़े होने का अभ्यास बढ़ा लेना चाहिए। इस आसन को अधिक से अधिक बारह मिनट तक साधारणावस्था में करना चाहिए। यदि किसी खास रोग को दूर करने के लिए अभ्यास अभीष्ट हो तो विशेषज्ञ की सम्मति से ३० मिनट तक भी यह आसन किया जा सकता है। आसन करते समय कुछ समय तक जल्दी-जल्दी श्वासोच्छ्वास होता है, फिर क्रमशः स्वाभाविकावस्था में आ जाता है, अतएव घबराने की आवश्यकता नहीं है। अधिक समय के अभ्यासियों का अनुभव है कि आसनावस्था में अपने आप प्राणायाम होने लगता है। जिन्हें अश्विनी मुद्रा (गुदा के आकुञ्चन-प्रसरण की क्रिया) सध गई हो वे इसे आसनावस्था में करके लाभ उठा सकते हैं। आसन को समाप्त करते समय क्रमशः पैरों को नीचे उतार लेना चाहिए। रीढ़ को झटकों से बचाने की जरूरत है।

उपरोक्त आसनों के पश्चात् ही भोजन या जल नहीं लेना चाहिए। कम से कम पन्द्रह-बीस मिनट का विश्राम आवश्यक है। एक बात और है जिन्हें बद्धकोष्ठता की शिकायत हो वे शीर्षासन का अभ्यास न करें। सर्वांगासन और मत्स्यासन से ही वह दूर हो जायेगी, उच्च रक्तचाप अथवा अधो रक्तचाप के रोगी भी इस आसन को न करें।

पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम्

(श्री कृष्णोवाच)

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥

हे अर्जुन ! सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण—ये प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुण अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बांधते हैं।

× × ×

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥

हे निष्पाप ! उन तीनों गुणों में सत्त्व गुण (तो) निर्मल होने के कारण प्रकाश करने वाला (और) विकार रहित है, (वह) सुख के सम्बन्ध से और ज्ञान के सम्बन्ध से अर्थात् उसके अभिमान से बांधता है।

× × ×

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ।

हे अर्जुन ! रागरूप रजोगुण को कामना और आसक्ति से उत्पन्न जान । वह इस जीवात्मा को कर्मों के और उनके फल के सम्बन्ध से बांधता है।

× × ×

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥

हे अर्जुन ! सब देहाभिमानियों को मोहित करने वाले तमोगुण को तो अज्ञान से उत्पन्न जान । वह इस जीवात्मा को प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा बांधता है।

× × ×

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्माणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥

हे अर्जुन ! सत्त्वगुण सुख में लगाता है (और) रजोगुण कर्म में। (तथा) तमोगुण तो ज्ञान को ढककर प्रमाद में भी लगाता है।

× × ×

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥

हे अर्जुन ! रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण, सत्त्वगुण और तमोगुण को (दबाकर) रजोगुण वैसे ही सत्त्वगुण (और) रजोगुण को (दबाकर) तमोगुण होता है अर्थात् बढ़ता है।

× × ×

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥

जिस समय इस देह में (तथा) अन्तःकरण और इन्द्रियों में चेतनता (और) विवेक शक्ति उत्पन्न होती है, उस समय ऐसा जानना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा है।

× × ×

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥

हे अर्जुन ! रजोगुण के बढ़ने पर लोभ, प्रवृत्ति, (स्वार्थ बुद्धि से) कर्मों का (सकाम-भाव से) आरम्भ, अशान्ति (और) विषय-भोगों की लालसा—ये सब उत्पन्न होते हैं।

× × ×

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥

हे अर्जुन ! तमोगुण के बढ़ने पर (अन्तःकरण और इन्द्रियों में) अप्रका, कर्तव्य-कर्मों में अप्रवृत्ति और प्रमाद अर्थात् व्यर्थ चेष्टा और निद्रादि अन्तःकरण की मोहनी वृत्तियाँ—ये सब ही उत्पन्न होते हैं।

× × ×

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥

जब यह मनुष्य सत्त्वगुण की वृद्धि में मृत्यु को प्राप्त होता है। तब तो उत्तमकर्म करने वालों के निर्मल दिव्य स्वर्गादि लोकों को प्राप्त होता है। (श्रीमद्भगवद् गीता से)

श्रीमद्भागवत पर आधारित—

वासना क्षय का साधन

श्री धीरेन्द्रस्वरूप ब्रह्मचारी, सवाई

उस समय की बात है जब महर्षि व्यास देव जी श्रीमद्भागवत पुराण की रचना कर रहे थे। वे श्लोकों की रचना करते हुए उन्हें अपने शिष्य ऋषि जैमिनी को जांचने के लिए दे जाते थे। जांचते हुए ऋषि ने तब श्रीमद्भागवत पुराण में यह श्लोक देखा—

बलवानिन्द्रियग्रामो—

विद्वांसमपि कर्षति।

अर्थात् इन्द्रियाँ इतनी बलवान होती हैं कि बड़े-बड़े विद्वानों को भी विचलित कर देती है। इस श्लोक को पढ़कर जैमिनी ने सोचा कि व्यास जी से इसमें कुछ भूल हो गई है क्या इन्द्रियाँ विद्वानों को कभी विचलित कर सकती हैं। उन्होंने व्यास जी से कहा—इस श्लोक में "विद्वांसमपि कर्षति" के स्थान पर "विद्वांसनापकर्षति" लिखना चाहिए। व्यास जी ने कहा कि 'मैंने जो लिखा है वह ठीक ही है इसमें कोई भूल नहीं है।' बात आई गई हुई।

एक दिवस जैमिनी सन्ध्या समाप्त करके जलादि से बाहर आकर पूजा सामग्री विसर्जित करने जा रहे थे, तो वहां उन्होंने देखा कि एक सुन्दर युवती वृक्ष के नीचे वर्षा से भीग रही है। भीगे हुए वस्त्रों से झलकते हुए सौन्दर्यपूर्ण शरीर को देखकर जैमिनी की काम वासना जाग्रत हो गई। ऋषि जैमिनी ने उस सुन्दरी से कहा—यह कुटिया तुम्हारी ही तो है। चलो आओ भीतर आश्रम में विश्राम करो। सुन्दरी ने कहा—पुरुष कपटी होते हैं। मैं आपका विश्वास कैसे करूँ? कुछ समय के बाद जैमिनी बोले—मैं पूर्व मीमांसा का आचार्य जैमिनी ऋषि हूँ। क्या मेरा भी विश्वास नहीं करोगी? मुझ जैसे तपस्वी का भरोसा नहीं है तो फिर किसका भरोसा करोगी। सुनो! यह तुम्हारी ही तो कुटिया है। वह सुन्दरी आश्रम में आई। भीगे हुए वस्त्र उतार कर कपड़े पहने। जैमिनी ने फिर रूप देखा तो मन और भी ललचा गया। उन्होंने उस युवती से पूछा—तुम्हारा विवाह तो नहीं हुआ होगा! वह स्त्री अविवाहिता थी अतः जैमिनी ने विवाह का प्रस्ताव रखा। उस युवती ने कहा—मेरे पिता ने प्रतिज्ञा की है कि जो

पुरुष घोड़ा बनकर मेरी पुत्री को अम्बा जी माता के मन्दिर में दर्शन कराने ले जायेगा उसी के साथ उसका विवाह करूँगा। और

मैंने भी कहा था कि पिताजी ! आपके दामाद का मुँह काला कर उन्हें ले आऊँगी। जैमिनी ने सोचा, चाहे घोड़ा बनना पड़े चाहे मुँह काला करना पड़े, किन्तु यह सुन्दरी तो मेरी हो जायेगी न ? वे सब कुछ करने को तैयार हो गये। पुरुष पर-स्त्री को काम-भावना से निहारे तो उसका मुँह काला हो जाता है। जैमिनी ने घोड़ा बनकर उस युवती को अपने पर सवार करा लिया और यह अनोखी सवारी अम्बाजी के मन्दिर पर आई। उस मन्दिर के बरामदे में महर्षि व्यास जी बैठे हुए थे। उन्होंने सारी बात जानकर जैमिनी से पूछा: उस श्लोक में कौन-सा शब्द होना चाहिए। "कर्षति" या "नापकर्षति" अब जैमिनी के मन पर मानो वज्रापात हो गया। उन्होंने व्यास जी से कहा आप ही सच्चे हैं। क्षण मात्र भी ज्ञानी पुरुष को असावधान न होना चाहिए। असावधान हो गये तो काम सिर पर चढ़ ही जायेगा। ज्ञानी होने पर भी जैमिनी कामासक्त हो गये। उस सुन्दरी से विवाहिता-अविवाहिता की बात ही क्या की उन्होंने ! ऋषि का अवतार या जन्म परोपकार के लिए होता है। अनावश्यक बातों की पूछ-ताछ के लिए नहीं। काम के कारण बड़े-बड़े ऋषि, मुनि, ज्ञानी विद्वान् भी भटक गये हैं। तो फिर साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या होगी। भर्तृहरि ने भी कहा है :—

विश्वामित्रोपराशरप्रभृतयो
वाताम्बुपर्णाशना स्तेऽपि।
स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं,
दृष्ट्वैव मोहं गताः॥
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधि-
युतं भुञ्जन्ति ये मानवा-
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि,
भवेद्विन्ध्यस्तरेत्सागरम्॥

मात्र वृक्ष के पत्ते और जल पीकर निर्वाह करने वाले विश्वामित्र और पराशरप्रभृतयो ऋषियों को जो स्त्री के सुन्दर मुख कमल को देखकर काम ने विचलित कर दिया तो इन्द्रिय निग्रह न करने वाला और स्त्रियों का रात-दिन संग करने वाला आजका मनुष्य काम-जय की बात करे तो उसे निरर्थक ही समझिये। ■

❀ जिज्ञासु के कर्तव्य ❀

यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान् मत्परः क्वचित्। मदभिज्ञं गुरुं शांतमुपासीत मदात्मकम्॥
अमान्यमत्सरो दक्षो निर्ममो दृढसौहृदः। असत्वरोऽर्थजिज्ञासुरनसूयुरमोघवाक्॥

जिज्ञासु पुरुष के लिए यम और नियमों के पालन से भी बढ़कर आवश्यक बात यह है कि वह अपने गुरुको, जो मेरे स्वरूप को जानने वाले और शांत हों मेरा ही स्वरूप समझ कर सेवा करे। शिष्य को अभिमान न करना चाहिए। वह कभी किसी डाह न करे—किसी का बुरा न सोचे। वह प्रत्येक कार्य में कुशल हो—उसे आलस्य छू न जाय। उसे कहीं भी ममता न हो, गुरुके चरणों में दृढ़ अनुराग हो। कोई काम हड़बड़ाकर न करे—उसे सावधानी से पूरा करे। सदा परमार्थ के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा बनाये रक्खे। किसी के गुणों में दोष न निकाले और व्यर्थ की बात न करे।

—श्रीमद्भागवत

अपनी-स्थिति का प्रदेश

अपने आस पास
एक सम्पूर्ण विश्व की कल्पना
सत्य, शिव और सुन्दर
मनुष्य का शरीर है
जो क्षार है
जरा-व्याधि है
दृष्टि हीन है,
प्रभु ! इसे दृष्टि दो
यह न हो जाये
आलोचना का इंगित
चिन्तित
स्वयं से जगत से
जीव : तत्व है जिसका
ब्रह्म : सत्य है जिसका
फिर शरीर ?
केवल एक भौगोलिक स्थिति है
जो पर्यावरण की रिक्तता में
अपना परिवेश
अपनी स्थिति का प्रदेश
भूल बैठा है
प्रभु ! इसे दिशा दो
इसे कर्म दो
दिशा : धर्म है
और—
कर्म : एक मनःस्थिति है
जिसमें दैहिक, दैविक और भौतिक
अतिरेक अपघटित होते हैं
और मस्तिष्क अपनी भौगोलिक—
स्थिति बदलता है
आप जानते हैं क्या ?
मस्तिष्क की भौगोलिक-स्थिति
योग है
और योग ही वह वैभव है
जो शरीर से सम्भव है। — श्री राघवेन्द्र तिवारी

योगाभ्यास में विषय-भोग से हानियाँ

※ योगाचार्य श्री कृष्णमूर्ति ब्रह्मचारी

यह भारतवर्ष अध्यात्म प्रधान देश है। इस पवित्र देश में ऋषि-मुनियों ने आध्यात्मिकता का सिंचन करते हुए विश्वको अमरत्व का सन्देश प्रदान किया है। साथ ही यहां विषय रूपी-विकार को सबसे अधिक घातक बतला कर जन-मानस को सचेत करते हुए उन्होंने कहा है कि सदाचार, सद्गुणों का और दुराचार, दुर्गुणों का स्वरूप है।

१—महापुरुषों की आज्ञा-पालन करना सदाचार है।

२—वैराग्य और निरभिमानता आदि सद्गुण हैं।

३—हिंसा, अपहरण आदि दुराचार हैं।

४—काम (विषय-सेवन) आदि मानव अभ्युदय में बाधक है।

जैसे—सदाचार से सद्गुणों की उत्पत्ति और वृद्धि होती है, उसी प्रकार दुराचार से दुर्गुणों की उत्पत्ति और वृद्धि होती है। परमात्मा और महापुरुषों की आज्ञा का पालन करने से सम्पूर्ण विकारों का सर्वनाश और सद्गुणों का आविर्भाव होकर समाधि तथा मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है, यह निर्विवाद है। पर कुछ तो मनुष्य के पूर्व जन्म के कुसंस्कारों के फलस्वरूप कुछ उसकी अज्ञानता के कारण उसे मोक्षदा सत्संगति तो मिल नहीं पाती, अतः उसका झुकाव दुःसंगति की ओर हो जाता है, जिसके प्रतिफल स्वरूप वह दुर्गुणों का शिकार बन जाता है और फिर अनेक प्रकार की पीड़ाओं और अभावों के जाल में पड़ा-पड़ा अपने भाग्य को कोसा करता है। जग-जंजाल के कष्टों से बचने के लिए यह एक सरलतम मार्ग है कि मनुष्य संतों का यानी भले आचारवान् पुरुषों का संग करे अथवा किन्हीं सद्गुरु की शरण में पहुँचे। हमारे देश में इसीलिये निगुरा अर्थात् जिसका कोई गुरु नहीं होता उसका सम्मान नहीं होता। प्रतिकूल इसके जिन्हें किसी सद्गुरु से दीक्षा प्राप्त हुई होती है, जिन्हें आदर से देखा जाता है तथा उनका वचन भी प्रामाणिक माना जाता है। द्विजातियों में आज भी व्यक्ति से उसके परिचय में ऋषि-गोत्र पूछने की परम्परा है। इससे यह पता सहज ही चल जाता है कि

अमुक व्यक्तिके पूर्वज किसी भी ऋषि कुल से सम्बन्धित चले आ रहे हैं। यह एक प्रकार से सद्गुरु बनाने की अथवा सद्गुरु की शरण में जाने की प्रणाली है, जो ऋषि-गोत्र के रूप में आज तक चली आ रही है।

सद्गुरु की शरण या उनकी आज्ञा का पालन मनुष्य ही जीवन के लक्ष्य तक पहुंचाने में सबसे प्रबल आधार होता है। काम-वासना में फँसा व्यक्ति सन्तों के संग अथवा गुरु-चरणों की कृपा से सहज ही विमुक्त होकर—सच्चा योग-साधक बनकर कैवल्य लाभ का अधिकारी बन जाता है।

योग-साधन में सबसे बड़ी बाधा विषय-वासना ही हुआ करती है। काम तो इस योग का सबसे बड़ा शत्रु है। अतः इस शत्रु का वध किये बिना मनुष्य योग-पथ पर आगे नहीं बढ़ सकता। भगवान श्रीकृष्ण ने भी गीता में कहा है—

आवृतं ज्ञानमेतेन,
ज्ञानिनो नित्य वैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय,
दुष्पूरेणानलेन च॥

अर्थात् यह काम मनुष्य का नित्य वैरी है, अग्नि के समान इसकी भूख कभी नहीं बुझती इससे मनुष्य का ज्ञान ढका रहता है।

अतः ऐसे नित्य वैरी को सबसे पहले मारना चाहिए, जो इसे मार लेते हैं, वे ही मोक्ष-मार्ग अथवा योग-मार्ग में आगे बढ़ पाते हैं।

देह में विषय-वासनाओं की अधिकता से ही अनेक असाध्य रोगों का आविर्भाव होता है, जिससे शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक सुखों का सर्वनाश हो जाता है। शरीर-शक्ति क्षय को प्राप्त होती है।

मन निर्बल होता है एवं अन्तःकरण अपवित्र बनता है।

पुण्यों का नाश एवं पापों की बढ़ोत्तरी होती है।

विषय-सुख केवल अज्ञानता में प्रथम सुखद प्रतीत होता है, पर परिणाम में महान दुःख रूप है।

अतः इससे बचकर सन्तों और सद्गुरु की शरण में जाना ही श्रेयस्कर है।

यह संसार एक दुःखालय है, इसमें सुख शान्ति की प्राप्ति सम्भव नहीं है। विषय-वासना में हमें जो क्षणिक सुख एवं क्षणभंगुर आनन्द की अनुभूति होती है, वह पलभर के लिए ही होती है। वह वास्तविक सुख शान्ति की आभासमात्र होती है, विश्व की सुखदायिनी विभूतियों एवं धन, पुत्रादि को त्यागकर साधु-महात्मा उसी सुख शान्ति की खोज में जंगल व पहाड़ों में आश्रय लेकर समाधि प्राप्ति के लिए तपस्या करते हैं। अतः हमें इसी दिशामें बढ़ना चाहिए।

❀ श्री गुरुदेव जी के आगामी योग-प्रचार कार्य-क्रम ❀

ता० २४-२-७८ को कानपुर-प्रस्थान कानपुर

ता० २५-२-७८ से ता० २-३-७८ तक	योग-प्रचार कार्यक्रम कानपुर पता—द्वारा श्री भगवतस्वरूप (सर्वांगी) ४८/१३ लाठी मुहाल, कानपुर

ता० ३-३-७८ को अलीगढ़-प्रस्थान अलीगढ़

ता० ४-३-७८ से ता० १०-३-७८ तक	योग-प्रचार कार्यक्रम अलीगढ़ पता—द्वारा श्री रामअवतार शर्मा रामकृष्ण विवेकानन्द आश्रम, रामघाट रोड, अलीगढ़

❀ मनीषियों की दृष्टि में सिद्धयोग ❀

[श्री गुरुदेव जी को प्राप्त पत्रों में से एक]

परमादरणीय सम्पादक जी,

'सिद्धयोग' पढ़कर आपको पत्र लिखने का लोभ-संवरण न कर सका। 'सिद्धयोग' में इतनी उपयोगी सामग्री रहती है कि उससे विद्वान्, अनुसंधित्सु तथा सामान्य पाठक समान रूप से लाभान्वित होते हैं। धर्मप्रिय हिन्दू समाज का ही नहीं, मानवमात्र का कल्याण करने वाली ऐसी पत्रिकाओं का हिन्दी में नितान्त अभाव है। मैं तो आपकी इस साधना पर बलिहारी हूँ। ईश्वर से कामना है—'आपकी यह साधना चिरकाल तक चलती रहे।

—श्री बापूलाल अंजना

प्रवक्ता, संस्कृत विभाग

पी० जी० कालेज, बैंक रोड, गोरखपुर

Sidhayoga Regd No. L. Ag. 008

योग के सिद्धान्त और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्ध योग

संस्थापक संपादक तथा संरक्षक:
योगिराज अनंत श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

संसार और साधना

जो संसार में रहकर भी साधना कर सकते हैं वे यथार्थ में वीर साधक हैं। शक्तिमान पुरुष जैसे सिर पर भारी बोझा धारे रहने पर भी दूसरी ओर दर्शन करता देख सकता है वैसे ही वीर साधक इस संसार के बोझ धारे रहने पर भी भगवान की ओर देख सकता है।

× × +

उत्तर भारत के ग्रामों में स्त्रियाँ सिर पर पानी भरे घड़े रखकर ले जा सकती हैं। रास्ते में अपनी जान-पहचान वाले लोगों से काफी देर खड़ी होकर बातें भी कर लेती हैं, पर उनका ध्यान हर समय उन्हीं घड़ों की ओर रहता है कि कहीं वे गिर न पड़ें। धार्मिक पुरुषों को भी इसी प्रकार धर्म-पथ पर दृष्टि रखनी चाहिए ताकि वे सन्मार्ग-साधना से भटक न जाय।

× × ×

कटहल तोड़ने के लिए लोग पहले हाथ में तेल लगा लेते हैं क्योंकि ऐसा करने से कटहल का दूध हाथों में नहीं चिपकता। इसी प्रकार यदि ज्ञान रूपी तेल हाथों में लगाकर इस संसार रूपी कटहल का उपभोग किया जाय तो कामिनी काञ्चन रूपी दूध का दाग मन में नहीं लग सकेगा। —श्री रामकृष्ण परमहंस

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'सिद्ध' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई काजी, राजामंडी, आगरा-2